मोतीमाला का ३०वां रत्न

कला की दृष्टि

(रूप, अभिव्यञ्जना, वातावरण और तन्मयता
की कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ)

लेखक
भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

प्रथम संस्करण] १९४१ [मूल्य १=)

प्रकाशक
सुन्दरलाल जैन,
मैनेजिंग प्रोप्राइटर,
मोतीलाल बनारसीदास,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

मुद्रक
शान्तिलाल जैन,
बम्बई संस्कृत प्रेस,
शाही मुहल्ला, लाहौर।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
आकाशिका	क—घ
१. कला की दृष्टि	१
२ साँप का बिल	२३
३. सत्य का पाप	३७
४ विच्छेद	५४
५. स्पर्द्धा	६६
६. पीपल का पेड़	८३
७. अभिशाप	१०१
८. एकाकी	११२
६. जो मैं ऐसा जानती	१२४
१०. भ्रम	१३६
११. जलता लैंप	१४६—१६०

आकाशिका

अपने आलोचक से—

साथी, तुम मेरे दर्पण हो। तुममें मैं अपने को देखता हूँ। तुमने अपने रूप बदले हैं, फ्रेम भी तुम्हारा परिवर्तन-शील रहा है। किन्तु सब मिलाकर तुम हो मेरे लिए एक ही स्थिर, जाग्रत साथी। उन्नीस वर्षों से मैं तुममें अपने को देखने की चेष्टा कर रहा हूँ। किन्तु कभी तुमने मुझे अपने को समझने नहीं दिया। मैं नित्य बदलता रहा किन्तु तुमने तो अपने को इतना भी स्वच्छ नहीं रक्खा कि मैं तुम्हें देखकर अपने सच्चे स्वरूप को देख पाता। इसीलिए भाई, अपने रूमाल से आज मैं तुम्हारा आनन निर्मल कर देने का अपराध कर रहा हूँ।

× × ×

किसी भी कलात्मक कृति को, चाहे वह गीत हो या चित्र, मूर्ति हो या कथा, मैंने सदा कलाकार का स्वप्न समझा है। और स्वप्न कल्पना और अनुभूति से विरत, यथार्थ से दूर—सर्वथा दूर—की वस्तु है, यह बात नहीं है। जगत की यह रचना जितनी सत्य है, उतनी ही

स्वप्नमयी भी है। सत्य होकर भी वह कल्पित है और कल्पित होकर भी सत्य।

स्वप्न यथार्थता से दूर रहते हैं। मानता हूँ। किन्तु यथार्थता अतीत और भविष्य के बीच, वर्तमान की होकर भी, है अतीत के द्वारा देखा गया एक स्वप्न ही। और भविष्य की चेतना में हमारे आज की स्मृति क्या है? क्या वह स्वप्न नहीं है?

प्रश्न हो सकता है कि स्वप्नों का जीवन से सम्बन्ध? प्रश्न के भीतर की उग्रता से आतंकित होकर भले ही हम सोच बैठें कि स्वप्न व्यर्थ की चीज़ है—जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं। किन्तु ऐसा सोच लेने का अधिकार हमें है कितना? जीवन क्या सुविधाओं में इतना हरा-भरा, अनुकूलता से इतना सुलभ और कल्पनाओं से इतना साकार बन सका है? कला को हम उपयोगिता की ही आँखों से देखें, तो जीवन का अर्थ क्या रह जायगा? और दूसरी ओर चले जायँ, तो उपयोगिता की दृष्टि से भी कला जीवन के लिए आनन्द का अनुसंधान, जीवन के लिए सौन्दर्य-स्वीकृति और जीवन ही के लिए मानवात्मा का आत्मदान होने पर क्या कभी अक्षम रही है?

सदा से कला के प्रति मेरा यही भाव रहा है। तभी सम्पूर्ण आज की ही बातों और आज की ही समस्याओं में मैंने अपनी कल्पना की सीमा देखने की चेष्टा नहीं की। किन्तु तो भी जीवन की नग्न वास्तविकताओं के प्रति क्या मैं उदासीन रहा हूँ? क्या समाज और उसकी दीवालों, खम्भों और छतों पर रखी, लदी,

स्थिर शहतीरों और कड़ियों के खोखलेपन की ओर मेरी दृष्टि नहीं रही ? तो भी मेरी कला के प्रति आलोचक मित्रों ने कुछ इस भाव, अनुभाव और सन्देहों से देखने की चेष्टा की है, मानो मैं एक बूर्जुआ कथा-शिल्पी हूँ। जीवन और साहित्य को गति देने की चेष्टा से मैं कुछ दूर रहा हूँ।

स्वभावतः मैं अपने सम्बन्ध में मौन रहने का अभ्यासी हूँ। किन्तु देखता हूँ, आज का युग मेरी इस प्रकृति को सहन नहीं कर पाता। देखता हूँ कि बोलने का अवसर आने पर भी न बोलना अपने साथ अन्याय करना तो बाद को है, पहले वह कला के प्रति होने वाले एक अनाचार को प्रश्रय देना है। देखता हूँ, चुप रहने का अर्थ आज मान लिया गया है उन आशंकाओं और अभावों, शिथिलताओं और दृष्टि के धुँधलेपन को स्वीकार कर लेना, जो सत्य से दूर और वस्तु-स्थिति से सर्वथा प्रतिकूल है।—और पाता हूँ चुप रहना अर्थ के उस अनर्थ की स्वीकृति है, जिसे रचनाकार का प्रकृत रूप कभी मान्य कर नहीं सकता।

यहाँ कहा जा सकता है कि क्या यह रचनाकार की आत्म-श्लाघा, उसका अहंकार और दम्भ नहीं है कि अपने प्रति उठनेवाले विवाद के प्रति वह उदासीन ही बना रहे ? इस विषय में मेरे अन्य कलाकार बन्धु चाहे जो कुछ सोचें, किन्तु इसे मैं अहंकार न मानकर उसकी दृढ़ता और महानता ही मानूँगा।

किन्तु इसके बाद कलाकार की स्थिति का एक दूसरा पहलू भी

तो है। प्रश्न उठता है कि अहंकार कलाकार के लिए उचित कितना है ? नाप-तौल मैं नहीं करना चाहता। केवल जिज्ञासु बनकर कला और साहित्य के तत्त्वदर्शियों से यह जानना चाहूँगा कि कोई व्यक्ति जब कलाकार के आसन से बोल उठता है, तब अहंकार की सत्ता की सर्वाधिक ऊँचाई भी क्या उसको स्पर्श कर पाती है ? तभी प्राय: सोचता हूँ कि अहंकार तो कलाकार के लिए प्रकृत होकर छोटी चीज़ है। आरोप ही करना हो, तो उसके लिए कुछ और आगे जाने की आवश्यकता होगी।

किन्तु यदि अहंकार कलाकार के निकट सर्वथा वर्जित होकर ही आये, तो उसकी सब से बड़ी ऊँचाई, उसका सबसे सुन्दर रूप उत्तर देना नहीं, केवल एक मुसकराहट है।

और इन कहानियों में अपने आलोचक मित्रों के लिए यदि कुछ है, तो वही एक प्रकृत हास मात्र।

आज हिन्दी को लगभग तीन सौ कहानियाँ दे देने के बाद सोचता हूँ कि अगर ये रेखाएँ अवास्तविक हैं, यदि इनसे जीवन-रहस्य के अनुसंधान में गति नहीं मिलती, तो इन्हें समझने के लिए हिन्दी समालोचना को कम-से-कम पचास वर्ष अभी और आगे आना पड़ेगा।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

कला की दृष्टि

कला की दृष्टि

"आज मैं ताश न खेलूँगा। मेरी इच्छा है कि मैं कुछ बातें करूँ, आप लोगों से।...भाई विष्णु, तुम ज़रा आराम से बैठ जाओ। बुझे-बुझे-से मत देख पड़ो। मैं चाहता हूँ, तुम्हारा मुख मुझे फूल-सा खिला हुआ जान पड़े। बल्कि अच्छा हो, ज़रा-सा मुस्करा भी दो।...और विनोद तुम अपने नाम को सार्थक कर दिखाओ। खूब हुल्लड़ मचाओ यहाँ—हृदय के पङ्ख खोल दो। उड़ो, और साथ ही मुझको भी, अपने साथ, उड़ा ले चलो।...अरे ब्वॉय, चाय तो ले आ रे, ट्रे में। और देख, आमलेट भी लाना होगा!...आज तुम भी यह चीज़ खाना, विष्णु। हम लोग यहाँ जी-जान से एक हैं। मैं भेद

नहीं मानता हूँ । भेद ने इस हरी-भरी दुनिया को नरक बनाया है।...तुम क्या सोचते हो, विनोद ? आज तुम्हारे केशों की लट मुँह पर लटकती और झूलती क्यों नहीं दीख पड़ती ? सिगरेट भी अब तक तुमने पीना नहीं शुरू किया । जलाओ झट से और फेंको धूम्र-शिखाएँ, नासिका के दोनों रन्ध्रों से, इस मुक्त अम्बर पर । बादलों-सा उमड़ता और उड़ता हुआ धुआँ, मुझे बड़ा प्यारा लगता है । सच, मैं यह बात अपने अन्तर के अन्तिम स्वर से कह रहा हूँ ।"

'दी रेडिकल्स' में बैठा हुआ विपिन इस प्रकार उत्तरङ्ग होकर बातें कर रहा है । स्लेट कलर के कोट में, भीतर से मर्सराइज़्ड ट्विल की कमीज़, दूध-सी श्वेत और किरण-सी चमकीली, लक़दक़ हो रही है । टाई उसकी बैंजनी है और पङ्खे की हवा में ज़रा-ज़रा-सी उड़ रही है, फहरा रही है । बढ़े हुए केशों में, आज उसने न तो लाइमजूस ग्लैसरीन लगाई है, न कङ्घी की है। तभी उसके बाल यत्र-तत्र निर्बन्ध हो-होकर आप-ही-आप कुञ्चित हो उठे हैं; छल्ले बन गये हैं उनमें ।

आज विपिन के मुख पर और भी एक बात है । मुद्रा से कुछ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह इस धरणी पर पैर नहीं रखे हुए है । चिड़िया बन गया है वह । लेकिन शायद मैं भूलता हूँ । उड़ती चिड़िया को मैंने कभी जलते हुए नहीं देखा । और यह विपिन तो मानों जल रहा है । लपटें उठ रही हैं उसके मानस-क्षितिज पर ।

उपर्युक्त बात कहकर वह कुर्सी छोड़ उठ खड़ा हुआ। विष्णु ने पूछा क्यों, कहाँ चले? और विपिन आगे बढ़कर छज्जे पर पड़ी आराम कुर्सी पर आ बैठा। बैठा क्या, बल्कि लेट गया, दोनों पटरों पर पैर फैलाकर।

विनोद ने कहा—आज इनका 'मूड' कुछ बदला हुआ देख पड़ता है।

विष्णु बोला—तो भी कुछ सुना डालो इसी बात पर, विपिन बाबू। लेकिन भई, कोई ऐसी बात सुनाना, जिसका सम्बन्ध तुम्हारे जीवन से हो, उसके निर्माण से।

विनोद ने सिगरेट का डब्बा और दियासलाई का बक्स इसी क्षण उसके सामने कर दिया।

विपिन चुपचाप रहा, ज़रा भी न हिला-डुला।

विनोद तब बोल उठा—क्यों सुलगाते क्यों नहीं?

विष्णु भी कहने लगा—हाँ जलाओ, जलाओ यार!

तब विपिन विनोद की ओर एकटक देखता रह गया। बड़ी-बड़ी उसकी आँखें पूरी-की-पूरी खुल गईं, एक निःश्वास लेकर उसने डब्बे से एक सिगरेट निकाल ली और पटरे पर बार-बार उसे हलके से ठोंकते हुए वह कहने लगा—जीवन-भर सुलगता ही तो रहा हूँ विनोद, जल कभी नहीं सका। केवल धुआँ ही निःसृत हुआ है मुझसे।···जलने का अवसर तो अब आया है।

अवाक् और विस्मयाकुल होकर, विनोद और विष्णु उसे देखते रह गये।

विपिन उठकर खड़ा हो गया और उसी छज्जे पर इधर-से-उधर टहलने लगा। दियासलाई से सिगरेट जलाकर एक कश लिया उसने। मुँह के सामने धुआँ उड़ने लगा और ऐसा जान पड़ा, जैसे अब भी उस धुएँ को ही वह ध्यान से देख रहा है। परन्तु क्षण-भर बाद कलाई में बँधी घड़ी की ओर देखकर कहने लगा—सात बज रहा है और आठ बजते-बजते मैं जलने लगूँगा।

विनोद और विष्णु चुप बने रहे और ब्वॉय बीच कमरे में पड़ी अण्डाकार टेबिल पर चाय की ट्रे रखकर चला गया।

"शम्पा को तुम लोग नहीं जानते होगे?"—विपिन कहने लगा—"लेकिन तुमने उसे देखा ज़रूर होगा। इस नगर के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति की एक मात्र सन्तान है। इन दिनों यहाँ बहुत कम रहती है। कभी-कभी आ जाती है। उसका विवाह हुए कई वर्ष हो गये और इसीलिए अधिकतर उसका रहना दिल्ली या शिमले में होता है। उसके स्वामी एक बहुत ऊँची पोस्ट पर हैं। एक दिन राह चलते उससे भेंट हो गई थी। वे लोग उस दिन ज़ाकू पर चढ़ने निकले थे। मैं भी प्रायः उधर आ जाता था। थककर पत्थर की एक पटरी पर बैठा हुआ मैं सुस्ता रहा था कि उसी समय दोनों वहाँ आ पहुँचे। मैं थोड़ी देर बैठ चुका था और वे लोग काफ़ी थक गये थे और हाँफ रहे थे। उसी समय मेरी दृष्टि एकाएक शम्पा पर जा पड़ी थी। श्वास के उभार में उसका वक्ष-प्रान्त कुछ अधिक आगे आ जाता था। मैं उठकर चल दिया

और तब वे दोनों वहाँ बैठ गये । शम्पा ने बैठते समय मुझे धन्यवाद भी दिया । अगर मैं चाहता, तो इस दम्पति का और मेरा साथ बराबर कई घण्टों तक चलता । किन्तु मैंने ऐसा नहीं किया । आगे न बढ़कर मैं पीछे लौट पड़ा । मैंने ऐसा क्यों किया, अभी तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा ।"

विष्णु बोला—आओ, पहले चाय पी लें, तब···और विनोद मौन रहा । सम्भवतः वह पहले विपिन की पूरी बात सुन लेना चाहता था ।

किन्तु विपिन कहने लगा—अच्छी बात है, पहले चाय पी ली जाय । हालाँ कि अब मैं पीना चाहता नहीं ।

विनोद ने पूछा—क्यों ?

इसी क्षण पहले तीन प्लेट्स में आमलेट (चाकू और काँटे सहित) सामने आ पहुँचा फिर ट्रे में चाय और प्याले ।

विष्णु बोला—मैं तो··· !

"ऐसा नहीं हो सकता, तुम्हें खाना पड़ेगा विष्णु"—विपिन कहने लगा—"सिर्फ़ आज । जानते हो, कल मेरी दुनियाँ कुछ और होगी ।"

विनोद सुनहली चाय, प्यालों में ढालने लगा और विपिन फिर बोल उठा—मैं लौट तो पड़ा, किन्तु चलने लगा बहुत धीरे-धीरे । उन थोड़ी-सी घड़ियों को आनन्द से बिताने के लिए । मैं प्रतीक्षा में था कि कब वे लोग उस स्थान से आगे बढ़ते हैं । बात यह थी कि मैं उनके पीछे-पीछे चलना चाहता था ।

थोड़ी देर बाद मैं फिर आगे बढ़ गया। किन्तु पत्थर की उस पटरी के निकट आकर मैंने देखा, कोयले की नोक से उस पर लिखा हुआ था: —

'उस गहन विपिन में कौन जाय,
जिसका कुछ पारावार नहीं।'

और तब मैं आगे न बढ़कर वापस ही लौट आया।

चाय पीता हुआ विनोद ज़रा-सा रुककर बोला—हमारे विष्णु जी अगर आपके स्थान पर होते, तो इस तरह लौटकर कभी न आते।

बात कहने के बाद वह विपिन की ओर देखकर मुस्कराने लगा, किन्तु विपिन ने उस ओर ध्यान नहीं दिया।

× × ×

विपिन एक चित्रकार है। उसकी आय अधिक नहीं है। बहुत कम लोग उसके चित्रों की सराहना करते हैं। किन्तु आय कम होने और समाज में यथेष्ट कीर्ति उपलब्ध न होने के कारण उसे किसी प्रकार का असन्तोष अपने लिए नहीं है। यदि वह कमर्शियल आर्टिस्ट होता, तो उसकी आय कम नहीं हो सकती थी, यह वह जानता है। कभी-कभी यदि किसी परिचित मित्र ने उससे इस सम्बन्ध में कुछ कहा है, तो विपिन ने उत्तर में प्राय: ज़रा-सा मुस्करा दिया है।

इसी क्षण विष्णु बोल उठा—आपकी बात दूसरी है। आप तो प्रेम की सत्ता को स्वीकार ही करना नहीं चाहते। आप

तो उसे एक प्रवञ्चना मानते हैं। मनुष्य को जब प्रेम कहीं मिलता नहीं, तब निराश होकर वह अपने विवेक का बैलेंस स्थिर नहीं रख पाता। प्रायः देखा गया है कि ऐसी स्थिति में उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। मैं यह बात दृढ़ता के साथ कहने के लिए तैयार हूँ कि विपिन को यदि प्रेम मिला होता, तो न केवल उसके जीवन में, वरन् उसकी कला में भी एक विराट परिवर्तन उपस्थित हो जाता। लेकिन मर्यादित भावुकता कलाकार के जीवन के लिए जहाँ एक ओर अत्यन्त आवश्यक होती है, वहाँ दूसरी ओर कभी कभी वह उसकी कला के विकास के लिए विष भी बन जाती है।

विष्णु अपनी बात कहकर चुप हो गया। विनोद ने उस समय एक बार विष्णु की ओर देखा, फिर विपिन की ओर। खाद्य-पदार्थ समाप्त हो गये थे और चाय भी सब लोगों ने पी ली थी। वेटर ट्रे उठा ले गया। विष्णु ने सिगरेट का पैकेट विपिन के आगे कर दिया। विपिन ने सिगरेट निकाल ली, जलाई और उसके दो कश लिये।

अब विष्णु और विनोद भी सिगरेट का कश ले ही रहे थे कि विपिन बोल उठा—प्रश्न यह नहीं है कि मुझे किसी ने प्यार नहीं किया; प्रश्न यह भी नहीं है कि मैं किसी को प्यार करना चाहता नहीं हूँ। खिल्ली उड़ाने और व्यंग्य की चोट पहुँचाने को मैं कुछ बुरा नहीं मानता। ये चीज़ें मेरे निकट आ भी नहीं पातीं, स्पर्श तक मुझे कर नहीं सकतीं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि

क्या देखकर मैं किसी से प्रेम करता हूँ! आप कहना चाहते हैं, शरीर से परे एक आत्मा है, वह अनुभव करती है और ग्रहण करती है। अपना और पराया वह अलग-अलग करना जानती है। सुनने में ये बातें मुझे प्यारी मालूम होती हैं, समझ में भी कुछ कुछ आती हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या प्रेम वासना से परे कोई वस्तु है?

विष्णु सँभलकर बैठ गया। टेबिल पर हाथ पटककर वह बोला—क्यों नहीं हैं? उस दिन सड़क पर पड़े हुए निष्प्राण कुत्ते को देखकर आप क्यों खड़े हो गये थे! आपके भीतर प्राणीमात्र के लिए अगर कोई समवेदना न होती, तो आप के लिए ऐसा करना कदापि सम्भव न था।

विनोद इस भाव से विपिन की ओर देखने लगा जैसे वह अब तुरन्त ही कोई उत्तर देगा, रुक नहीं सकेगा। किन्तु विपिन ऐसे अवसर पर भी मौन ही बना रहा।

विष्णु ने कहा—यदि आपके हृदय को आघात न लगा होता, तो आप शम्पा के साथ ज़ाकू पर चढ़ने ज़रूर जाते—ज़रूर जाते। किन्तु मैं जानता हूँ कि आपके व्यक्तित्व का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने आपसे परिचय प्राप्त करने की भी चेष्टा नहीं की। उस पंक्ति में वह जो 'विपिन' शब्द आ गया, वह अनायास है। और यह है आपका अहङ्कार कि आप उसे अपने लिए मान बैठे हैं। आप समझते हैं कि

कलाकार होने के कारण नारी-हृदय पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य भी आपने प्राप्त कर ली है। आप भ्रम में हैं।

× × ×

कई दिनों के पश्चात् एक होटल के अन्दर शम्पा विपिन को मिली थी, और उसने अपने पति के साथ रहते हुए भी उसका परिचय प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, उसने उसे अपने यहाँ चाय का निमन्त्रण भी दिया था। किन्तु निमन्त्रण के दिये हुए समय का उसे ध्यान नहीं रहा और फलतः वह उसके यहाँ जा नहीं सका था। किन्तु यह बात इस समय विपिन प्रकट नहीं कर रहा है।

और भी कई दिन बीत गये थे। शम्पा पता लगाती-लगाती एक दिन विपिन के यहाँ पहुँची थी। कई चित्र उसने उसके यहाँ देखे और बहुत पसन्द किये थे। एक चित्र उसने उससे ख़रीदना भी चाहा था, किन्तु विपिन ने अपने स्टूडियो में ही रखने के मोह के कारण उसे देना स्वीकार नहीं किया था। इसका एक कारण और भी था।

चित्र में सारस की एक जोड़ी भरेसरोवर में खड़ी थी। नर की चोंच जलाशय के भीतर थी और मादा चुपचाप खड़ी थी। कुछ देख रही थी वह। शम्पा ने कहा था, मैं चाहती थी कि या तो दोनों की चोंच जलाशय में रहती, या दोनों चुपचाप खड़े होते। आपने तो दोनों में विरोध दिखलाकर सन्तोष प्राप्त किया है। लेकिन ख़ैर, आपने मादा की दृष्टि में कुछ ऐसे भाव प्रदर्शित किये हैं जो मुझे आकृष्ट किये बिना रह नहीं सके। इसीलिए मैं इसे लेना चाहती हूँ।

विपिन कुछ बोला नहीं था। यद्यपि उसने कहना चाहा था कि दोनों में भावना की एकता दिखलाकर मैं अपने को निर्जीव बनाना नहीं स्वीकार कर सकता।

शम्पा थोड़ी देर चुपचाप इधर-उधर अनेक चित्रों को देखने के बाद जब चलने को हुई, तो उसने उलहना भी दिया कि उस दिन मैंने आपकी बड़ी प्रतीक्षा की, किन्तु आप आये नहीं! आपसे मुझे ऐसी आशा न थी।

विपिन ने पूछना चाहा था कि आपने मुझसे ऐसी आशा ही क्यों की थी, क्यों आपने मुझे अपने यहाँ चाय के लिए आमन्त्रित किया था? परिचय बढ़ाकर आप मुझसे आकांक्षा क्या रखती हैं? किन्तु फिर उसने उससे ऐसा कोई प्रश्न नहीं किया। साधारण टूटे-फूटे शब्दों में रुक-रुककर उसने कहा था—मुझे समय का ध्यान नहीं रहता, मैं प्रायः भूल जाता हूँ।

उसकी इच्छा हुई कि शम्पा का कुछ स्वागत करे, उसे चाय पिलाये; किन्तु वह यही सोचता रहा कि मैं ऐसा क्यों करूँ? तभी वह जान-बूझकर शम्पा के आगे आप ही अकेला सिगरेट सुलगाने लगा था और उसने शम्पा से किसी चीज़ के लिए भी पूछा नहीं था। उसके भीतर का मानव बार-बार उसे कोंच रहा था, बिगड़-बिगड़ उठता था—तू अशिष्ट है, असभ्य है, सामाजिक प्राणी तू बन नहीं पाया। किन्तु अपनी इस अन्तर्ध्वनि से वह बराबर यही कह रहा था कि इस निकटता का परिणाम क्या है, इस सभ्यता ने हमें पहुँचा कहाँ दिया है? क्या यही आत्मीयता है, क्या यही एक को दूसरे से

सम्बद्ध करने का अविच्छिन्न साधन है ? बार बार वह अपने से कहने लगता था—नहीं है, नहीं है। यह आत्मीयता नहीं है, शिष्टाचार भी नहीं है, यह कोरी वासना है—प्रवञ्चना है। इन उपकरणों से जो निकटता उपलब्ध होती है, उससे लालसा रानी अपने पङ्ख खोलकर निरभ्र अम्बर में, उड़ना चाहती हैं। शम्पा विवाहिता नारी है। उसके प्रति निकटता रखने का एक ही साधन है—एक ही उपाय है। और वह है तटस्थता।

इस प्रकार विपिन पृथक्ता को ही निकटता मानता आया है। विश्वास वह सब पर करता है। कोई उसके साथ छल भी करे, प्रपञ्च भी रचे, तो भी समझ वह यही लेता है कि भूल से ही ऐसा हुआ है।

शम्पा चलने लगी थी। पर चलते हुए उसके पैर रुक-रुक जाते थे। तो भी विपिन ने कहा नहीं कि थोड़ी देर और बैठिये।

शम्पा के जीवन में यह प्रथम अवसर था, जब एक सुशिक्षित, नागरिक और प्रतिभावान कलाकार से उसे ऐसी उपेक्षा मिली थी। वह रूप गर्विता नारी है। चिरमानिनी और चिर आह्लादमयी। वह हँसती बहुत खुलकर है। सोफ़े पर हँसती-हँसती वह उछल पड़ती है, लोम-लोम उसका विलसित प्रतीत होता है। और आज यह पहला अवसर था कि वह कलाकार से मिलने गई और उसे हँसने को नहीं मिला।

शम्पा तब यह भूल गई कि वह एक कलाकार के कमरे में है और उसका आदर करना ही उसके लिए आवश्यक है। वह भूल

गई कि वह अपने हृदय में जिसके लिए एक श्रद्धा लेकर आई थी, उसका अपमान करना कभी उसके लिए शोभन नहीं हो सकता। वह यह भी भूल गई कि वह एक सम्भ्रान्त रमणी है और उसके वार्तालाप की कटुता उसी के लिए अपमान की बात हो सकती है।

बरौनियाँ चढ़ गईं, भृकुटियाँ तन गईं और वे मद-भरे मृग-नयन बात की बात में बदल कर उग्र हो उठे। वह बोली—मैं प्रायः सोचा करती थी कि जो कलाकार इतनी ऊँची प्रतिभा रखता है, क्यों वह ऐसा हीन जीवन व्यतीत करता है, क्यों उसे अपेक्षित और उचित कीर्ति और लक्ष्मी उपलब्ध नहीं होती? आज मुझे अनुभव हुआ कि इसके मूल में कितना बड़ा अहङ्कार और दम्भ है। जो व्यक्ति अपने साधारण जीवन में मनुष्यता भी सीख नहीं सका, वह और चाहे जो कुछ बन जाय, पर कलाकार कभी हो नहीं सकता। आप समझते होंगे कि कला की उपासना करके आप कोई बहुत बड़े महत्त्व का काम कर रहे हैं। किन्तु मैं आपको यह बतला देना चाहती हूँ कि मनुष्यता कला से भी ऊपर है और उसे खोकर या उसकी अवहेलना करके कोई व्यक्ति उसकी अर्चना कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता।

शम्पा की इस बात का बड़ा तीखा उत्तर उसने सोचा था। वह कहना चाहता था कि यही उपदेश आप सड़क के चौराहे पर खड़ी होकर अगर एक दिन भी दे सकें, तो संवाद-पत्रों को तो एक रोचक सामग्री दे ही सकेंगी! किन्तु वह कुछ बोला नहीं, केवल ठट्ठा मारकर हँस पड़ा।

और शम्पा के लिए इससे बढ़कर अपमान की बात दूसरी क्या हो सकती थी ? वह चल दी।

× × ×

अब शम्पा रात-दिन सोचती थी कि विपिन से वह बदला लिये बिना नहीं मानेगी। चुटकी का उत्तर वह पत्थर से देगी। जब कभी उसे प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, वह विरोध करेगी और कहेगी कि उसकी कला दुर्नीति-मूलक है। जीवन के लिए कल्याण उसकी कला में नहीं है, वह दुःखवाद की भयानकता प्रदर्शित करके समाज को विनाश के पथ पर अग्रसर करता है। जीवन को उसने मरण की दृष्टि से देखा है, उल्लास, उत्साह, प्रेरणा और जागरण उसकी कला में नाम-मात्र को भी नहीं है।

दिन चल रहे थे।

देहली में प्रदर्शिनी हो रही है। आर्ट-गैलरी में समस्त भारतीय कलाकारों के चित्र-प्रदर्शित किये गये हैं। एक विपिन ही ऐसा रह गया है जिसके चित्रों को उसमें स्थान नहीं दिया गया। शम्पा नित्य उस आर्ट-गैलरी में चक्कर काटती है। उसे यह भी पता है कि विपिन इन दिनों देहली आया हुआ है। वह यह भी जानती है कि उसकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय है कि वह साफ़-सुथरे, लक्दक्क वेश में, शीत ऋतु की इस जनवरी के महीने में, नुमायश देखने के लिए आ सकने में भी समर्थ नहीं है। तो भी वह आर्ट-गैलरी में चक्कर काटती है। वह सोचती है, यदि कहीं वह आ गया, तो मज़ा आ जायगा—मेरी साध पूरी हो जायगी।

किन्तु नुमायश की अवधि समाप्त होने आई और विपिन उस आर्ट-गैलरी में एक दिन भी उसे देख नहीं पड़ा।

आज प्रदर्शिनी का अन्तिम दिन था। राजा वीरेन्द्रपाल अपने ड्राइङ्ग रूम में बैठे थे। शम्पा को सामने खड़ी देखकर बोले—सौभाग्य से हमारे राष्ट्रपति इस नगर में पधारे हैं। वे प्रदर्शिनी में भी थोड़ी देर के लिए आयेंगे। आर्ट-गैलरी का चार्ज तुमने लिया है। किन्तु विपिन का कोई चित्र तुम्हें अब तक प्राप्त नहीं हो सका। किसी तरह उसका कोई पुराना ही चित्र मिल जाता, तो अच्छा होता। तुम उसके चित्र पसन्द नहीं करतीं, न सही। किन्तु कला की दृष्टि पर शासन करना हमें शोभा नहीं देता।

शम्पा बोली—मैं तो उस अभिमानी और असभ्य विपिन के यहाँ जा नहीं सकती। लेकिन तुम उसका चित्र वहाँ रखना ही चाहते हो तो उसके पास जाकर ले आओ। मुझे भय है कि जिस चित्र को तुम ले आना स्वीकार करोगे, उसी को वह पाजी देने से इन्कार कर देगा—कहेगा, यह तो मेरे स्टूडियो की शोभा है।

राजा साहब बोले—अच्छी बात है, जाने दो।

बात आई और टल गई।

"राष्ट्रपति प्रदर्शिनी देखने आरहे हैं और तुम्हारी आर्ट-गैलरी में आज भी विपिन का कोई चित्र नहीं, महारानी।"—प्रोफ़ेसर शर्मा ने शम्पा के पास आकर कहा।

शम्पा बोली—मैं करूँ क्या, जब उनके चित्र मुझे प्राप्त नहीं हो सके।

"आप कहती क्या हैं, महारानी ?—कलाकार विपिन के चित्र दुर्लभ अवश्य हैं, किन्तु इतना वह अलोक-प्रिय भी नहीं है कि इतने बड़े नगर में उसका कोई चित्र कहीं से प्राप्त न हो सके। डी० ए० वी० कॉलेज में ही एक चित्र मैंने देखा है। आदमी भेजकर आप अभी मँगा सकती हैं। मैं पत्र लिखे देता हूँ। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जब आपने चित्रों पर पुरस्कार देना निश्चित किया है, तब भी ऐसे कलाकार के चित्र आपको प्राप्त नहीं हो सके।"

लज्जित, पराजित, शम्पा बोली—क्या उनके चित्रों बिना वह आर्ट-गैलरी अपना कोई महत्व ही न रखेगी ?

"ओः, यह बात है। अब कारण समझ में आ गया। तो आपकी दृष्टि उनकी कला पर ठीक ढङ्ग से गई नहीं महारानी! आप भ्रम में हैं। कलाकार विपिन हमारे जीवन की यथार्थता का चित्रकार है, शायद इसीलिए आप ऐसा सोचती हैं।"

शम्पा चुप रह गई।

प्रोफ़ेसर शर्मा बोले—मैं फिर कहता हूँ कि यह आपकी एक बहुत बड़ी ग़लती होगी।

× × ×

'दी रेडिकल्स' में बैठा हुआ विपिन आज कहना चाहता है कि वासना को प्रेम से अलग करोगे कैसे ? शम्पा यदि किसी कलाकार से आकृष्ट है, तो कैसे कह सकते हो कि उसके मन में वासना का उद्रेक हुआ ही नहीं ? माना कि कलाकार के साथ दारिद्र्य लिपटा

है और कोई सम्भ्रान्त अङ्गना दरिद्र व्यक्ति से प्रेम नहीं कर सकती; किन्तु कलाकार का जो व्यक्तित्व दारिद्र्य से परे है उसकी प्रेयसी बनने की लालसा भी उसमें आ नहीं सकती, यह मैं नहीं मानता—नहीं मानता। कलाकार के जीवन के अभावों को देखकर वह रो सकती है; किन्तु कलाकार की जो अपनी एक अभिनव दृष्टि और सृष्टि है, उसके प्रति आत्मार्पण कर देना, उसके लिए कभी सम्भव नहीं है, मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता।

किन्तु किस आधार पर वह ऐसी बात कहे, जब अभी कल ही उसने अपने सारे-के-सारे चित्रों को एक कबाड़ी के हाथ मिट्टी के मोल बहा दिया है! उसकी आँखों के आँसू सूख गये हैं, उसके हृदय की गति तीव्र हो रही है। महीनों से रात को नींद न आने और पेट की ज्वाला अशान्त, अतृप्त रहने के कारण उसका मस्तिष्क घूम रहा है। आज के दिन भर ही उसे अपने मित्रों से मिलना शेष है। केवल आज की ही सार्थकता है उसके जीवन में। कल जो प्रभात इस सृष्टि के आँगन में खिलेगा उसमें विपिन कहाँ होगा, वह स्वयं नहीं जानता। उसे कुछ ऐसा जान पड़ता है, मानो दीवारें घूम रही हैं और टेबिल के पास कुर्सी से जमा बैठा वह स्वयं भी घूम रहा है। वह सोचता है—क्या वह कुछ नहीं है, शून्य है? विष्णु और विनोद की जो बातें उसने अभी सुनी हैं, धीरे-धीरे वे भी विस्मृत हो चली हैं। महासागर की भाँति अभी-अभी सभी कुछ शान्त हो जाना चाहता है। बार-बार वह सोचता है—मैं शिमले में हूँ, या देहली में। ट्रेन से चल रहा हूँ या कार से? ज़मीन पर खड़ा हूँ या कमरे

में बैठा ? यह टेबिल है या कोई और वस्तु है ? चाय मैंने पी ली है क्या ?—लेकिन सिगरेट ! सिगरेट तो आज मुझे पीने को मिली नहीं है ! अरे, वह यही तो है, उसने अभी-अभी तो पी थी। मैं भूल गया था। अच्छा, यह विष्णु, जो काठ का उल्लू है, अभी कह क्या रहा था ?—और यह विनोद, मुझे बार-बार घूरकर देखता क्यों है ? क्या मेरे मुँह पर, मस्तक पर, किसी ने कुछ लिख दिया है और वह उसे पढ़ लेना चाहता है ? ये लोग चुपचाप बैठे क्या कर रहे हैं ? दिन है न अभी तो ? हाँ, दिन ही है। इसके बाद रात होगी। और फिर रात के बाद ? यह प्रकाश है, और इसके कोने में उधर वह अन्धकार जो है। तो प्रकाश भी है और अन्धकार भी ? तब ये दोनों स्थितियाँ क्या बला हैं ? और अभी यह विष्णु कह रहा था, प्रेम और चीज़ है, उसका सम्बन्ध आत्मा से है। वासना का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। अच्छा, तो यह इतना समर्थ हो गया है कि वासना को प्रेम से अलग कर देगा ? और प्रेम तब वासना से अछूता अस्पर्श्य दीख पड़ेगा, साकार होकर। वाह ! क्या बात है !! तो यह क्या इसमें भी समर्थ है कि कामना को, मन को और इच्छा-शक्ति को, आत्मा से अलग करके दिखा दे ! तो यह स्रष्टा है, इस जगत् का जनक यही है ? क्या ख़ूब !

विपिन तब आप ही आप उठकर अट्टहास करने लगा। सिगरेट का पैकेट उसने उठाकर नीचे सड़क पर फेंककर कहा—यह ख़ाली है, इसके अन्दर कुछ नहीं है। और तुम सब लोग भी ख़ाली हो, तुम्हारे भीतर आकाश है। यह ताश का ढेर है। और

आप लोग क्या चीज़ हैं—आप ताश के ढेर नहीं हैं ?

खड़े ताकते क्या हैं ? 'पे' कीजिए ब्वॉय को। मेरे पास पैसे नहीं हैं—नोट ही नोट हैं, सौ-सौ के।

ये हैं मेरी भीतरी जेब में। आपको दिखलाऊँगा नहीं । नहीं तो आपको भी लालच हो आयेगा, उड़ा देने का।—जैसे कभी शम्पा को लालच लगा था, मुझे उड़ा ले जाने का। आपको आश्चर्य होता है ! लेकिन आपको मालूम होना चाहिए कि जगत् का सारा आश्चर्य कलाकार के लिए केवल एक दृष्टि है । ऐं! यह आ कौन रहा है ! देखो तो, विष्णु। और विनोद, तुम यहीं हरो। डरता हूँ, कहीं भूकम्प न आ जाय और ये दीवालें मेरे गले से आ लगें। तुम मेरी बातें सुनकर नाक-भौं क्यों सिकोड़ रहे हो! मैंने पहले ही कह दिया था—मैं जलने को तैयार बैठा हूँ। तभी तुमको आश्चर्य क्यों नहीं हुआ ?

विष्णु सीढ़ी की ओर चला गया और विनोद बोला—आप अब ज़रा शान्त हो जायँ विपिन बाबू, पता नहीं कौन आ जाय ?

लेकिन विपिन कहता ही गया—क्यों शान्त हो जाऊँ, अब मुझे किसी का डर है क्या ! मेरी सारी कलाकृतियाँ मिट्टी के मोल बिकें और मैं शान्त रहूँ ! अच्छे रहे !!

विष्णु के साथ एक दम्पति को आया जान पहले तो विपिन एकटक उस ओर घूरकर रह गया। फिर बोला—आप लोग आख़िर आ ही गये । कहिये, आपकी क्या खातिर करूँ। उस रोज़ शम्पा तुम आई थीं ? हाँ, तुम्हीं तो थीं। मेरे पास तुम्हारे

स्वागत के लिए कुछ न था। तुम रानी हो, तो मैं भी आज राजा बन गया हूँ। आज मैं समर्थ हूँ कि तुम्हारा स्वागत इच्छा-नुसार कर सकूँ। ब्वॉय, अरे ब्वॉय, इधर तो आना!

शम्पा विष्णु को अलग ले जाकर उससे कुछ पूछने लगी। उत्तर में उसने सुना—हाँ, अभी थोड़ी ही देर हुई।

तब हाथ जोड़कर शम्पा विपिन के आगे खड़ी हो गई। बोली—आप की तबीयत आखिर ख़राब हो ही गई। लेकिन मैं तो आपकी वन्दना करने आई थी। आपका एक चित्र, चित्रों की एक मामूली दुकान पर मुझे मिल गया था। उसी को मैंने आर्ट-गैलरी में रखवा दिया था। उसे राष्ट्रपति ने बहुत पसन्द किया था। और फलतः हमारी एक्ज़ि-क्यूटिव-कमिटी ने उस पर आपको एक सहस्र रुपये पुरस्कार रूप में देना स्वीकार किया है। राष्ट्रपति आपका दर्शन करना चाहते हैं। चित्र आपके आर्ट-स्टूडियो में मैंने पहले भी देखा था। उसमें एक जर्जर-वसना नारी चुपचाप पड़ी है। उसका खुला वक्ष है। नेत्रों की पुतलियाँ खुली रह गई हैं, केश-गुच्छ बिखरा हुआ है। जीवन-दीप बुझ चुका है, किन्तु उसके स्तनों में मुँह लगाये बालशिशु दुग्ध-पान करने के लिए उस शव के साथ झगड़ रहा है। अमर चित्र है वह आपका।

विपिन विस्मय-विदग्ध होकर बोल उठा—कैसे राष्ट्रपति और कैसा राष्ट्र! राष्ट्र जब मुझको नहीं पहचानना चाहता, तो मैं राष्ट्र को क्यों पहचानूँ? मैं कहीं नहीं जाऊँगा—मैं किसी से नहीं मिलूँगा। मुझे भूखों मर जाने दो और उस आत्म-हिंसा को ज़रा व्यक्त कर

लेने दो। मैं तो बलिदान का चितेरा हूँ। और बलिदान की भूखी राष्ट्र की आत्मा के आगे मुझे तुम लोग मरने भी नहीं देना चाहते! आखिर तुम्हारा इरादा क्या है?

नत-जानु होकर वह आत्म-विस्मृत हो पड़ी। बोली—मैं नहीं जानती थी कि मेरा हृदय तुम्हारे प्रति इतना श्रद्धालु है। मैं यह भी नहीं जानती थी कि मैं भीतर-ही-भीतर तुम्हारी कितनी पूजा करती रही। मैं तुम्हारे आगे हार मानती हूँ विपिन बाबू। मैं मान गई कि वास्तव में एक कलाकार होकर तुम हमारे राष्ट्र के गौरव हो। तुम अपनी इच्छानुसार चाहे जैसे रहो और चाहे जिस प्रकार अपनी तूलिका चलाओ। मैं कभी कुछ न कहूँगी। तुम मेरी जैसी अनंत सुन्दरियों की निरंतर उपेक्षा करो, निरन्तर; मुझे कभी कोई शिकायत न होगी, कभी नहीं। मुझे क्षमा कर दो—क्षमा!

किन्तु विपिन आँखें फाड़-फाड़कर, चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—अरे, यह बातें क्या है! आप यह सब कह क्या रही हैं, महारानी शम्पा! कुछ भी तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। आखिर आप कहना क्या चाहती हैं! क्यों विष्णु, तुम कुछ बता सकते हो? ऐं!! क्यों महाराजा साहब आप!—आप!! और विनोद तुम—तुम!!!

साँप का बिल

सदर फाटक पर यह जो शहनाई बज रही है, उसमें भी स्वर-लहरी का एक अबाध आरोह-अवरोह है। किन्तु जीवन के आरोह-अवरोह के साथ उसकी संगति की मीमांसा कौन करेगा! कौन बतलायेगा कि अम्बर में उड़ते हुए ये श्यामघन ठहरकर थोड़ी देर बरस क्यों नहीं लेते? मन्द पवन का यह दोलन पीपल की पत्तियों में जो पुलक-कम्पन उत्पन्न कर देता है, मानवात्मा की उच्छल तरंग-राशि पर उसकी परिणति का मर्म कौन समझाने आयेगा!

चारों ओर से खुले, हवादार, ऊपर के कमरे में बैठी रानी यही सब सोचती हुई, अपनी नवीन भाभी मालती की बातों पर कभी-कभी 'हाँ-हूँ' कर देती है।

मेहमानों से भरा हुआ घर—वैवाहिक व्यवस्था में लीन जनों का दुर्निवार कोलाहल—बादलों से आवृत चाँदनी रात और खुली पक्की छतों पर लेटी हुई नवागत महिलाओं का पारस्परिक कला-लाप—नन्हें-नन्हें शिशुओं का क्रीड़ा-कौतुक के साथ माताओं का अस्थिर स्तन्यपान—उनकी मांसल देह पर दुलार भरी लोरियाँ—थपकियाँ। 'आ जा-री निंदिया, मुन्नू को प्यार से सुला जा री नदिया। —आ जा रे चन्दा, राधा को दुधुआ पिला जा रे चन्दा।'

मालती बोली—अब और तो सब लोग आ गये। केवल लखनऊ से करुणाशङ्कर नहीं आये। वे (पति) कहते थे कि आने को होता तो वह अब तक ज़रूर आ जाता। लेकिन मेरा विचार दूसरा है। मैं सोचती हूँ, वे आयेंगे ज़रूर, चाहे दो ही दिन के लिए क्यों न आयें।

उन्मन रानी ने पूछा—इन लोगों को स्टेशन से लाने के लिए जो परोहन गये थे, क्या वे सब वापस आ गये ?

"हाँ, सब लौट आये। उन पर कानपुर लखनऊ, इलाहाबाद बनारस के और लोग आ गये हैं। केवल···।" कहती हुई मालती रुक गई; किसी की पद-ध्वनि सुनकर। किन्तु क्षण-भर बाद उसे प्रतीत हुआ, वह कोई बालक था।

बादल थोड़ी देर के लिए हट गये थे। गगनाङ्गन निरभ्र होने लगा था। मन्द चान्द्र ज्योत्स्ना छिटक रही थी। रानी पलंग से उठ कर खुली छत पर आ गयी। गाँव से लगे वन से कोयल का स्वर आ रहा था। फाटक की ऊँची मुँडेर पर दोनों हाथ टेककर

रानी ने अपना मुँह ढक लिया। कोयल का स्वर इस समय उसे असह्य हो उठा था।

मालती उसकी देह पर हाथ रखकर बोली—तुम किस सोच में पड़ी हो बिट्टी? अरे! तुम्हारा शरीर भारी हो रहा है! आज तुमने कुछ खाया भी तो नहीं है। अच्छा, मैं शरबत बना लाऊँ।

मालती चली गयी। रानी ने न मना किया, न यही कहा कि ले आओ।

इसी समय नीचे से आवाज़ आने लगी।—आक्खा!—छोटे बाबू आ गये। धन्य भाग्य! कहो भाई, मज़े में तो रहे।—यह लालटेन काम न देगी। इसकी बत्ती ठीक नहीं है। एक ओर लौ कुछ ज़यादा निकली और फैली हुई है। देखो तो शीशा बिलकुल काला पड़ रहा है। किस बेवक़ूफ़ ने इसको साफ़ किया था?—नये घर की ताली किसके पास है जी? वहाँ से दो जाजमें और निकालनी हैं।—दाना? अब दाना और अधिक नहीं मिलेगा। अच्छे रहे। किसने कहा था कि दस घोड़े लेकर आयें। हम नौकरी पेशा आदमी ठहरे। धेले-धेले की चीज़ हमें ख़रीदनी पड़ती है। सड़ी-सी चीज़ के लिए पैसा गाँठ से लगाना पड़ता है। परोहन भी तो बीस लेकर आये हैं। कह दो जाकर—अब दाना हमारे यहाँ नहीं है।

रानी सोचने लगी—"यह लालटेन काम न देगी। इसकी बत्ती ठीक नहीं है। इसको लौ—!"

मालती शरबत ले आयी एक गिलास में और हँसती हुई बोली—

एक दिन वे यह केवड़े की शीशी ले आये थे। अभी तक मैंने खोली तक नहीं थी। आज इस समय मुझे याद आ गयी। (शीशी का कार्क खोलकर भरे गिलास शरबत में कुछ बूँद छोड़ती हुई) दादा जी बिगड़ रहे हैं। कहते हैं—दाना अब और ज़्यादा नहीं मिल सकता! बिट्टी, मुझे तो घोड़ों का नाच देखकर बड़ा मज़ा आया ये घोड़े सचमुच दस-दस सेर दाना रोज़ाना पाते होंगे। लेकिन कौन कहे उनसे।—लो, पी लो। अरे वाह!—यह नहीं हो सकता। पी लो, तुम्हें मेरी क़सम।

रानी फिर कमरे में चली आयी। पलँग पर बैठकर वह उस शरबत-भरे गिलास में मुँह लगाने जा रही थी कि छोटेबाबू इधर-उधर से पूछते हुए उसी ओर आ पहुँचे। रानी उसकी छाया देखकर पलँग से उतरकर फ़र्श पर खड़ी हो गयी। गिलास उसने पलँग के नीचे रख दिया।

"कहाँ छिपकर बैठोगी रन्नो? देखो, मैंने तुम्हें ढूँढ़ ही लिया।" उसके पैर छूते हुए करुणाशङ्कर बोला—अच्छा, तो ये नरेश-भैया की मिठाई हैं? और मुझसे इतनी लजाती हैं! (उसके भी पैर छूकर) कुछ और पहले से मैं आ न सका था, तभी मुझको यह दण्ड दे रही हो भाभी! अच्छा, तो मैं अपने अपराध के लिए तुमसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहता हूँ। बस-ना! बैठो-बैठो। मैं तो यों ही चला आया। जी न माना। सोचा, रन्नो का ब्याह है। नहीं जाऊँगा तो वह कहीं बुरा न मान जाय। अन्यथा मेरी तो देहली जाने की पूरी तैयारी थी। उधर मौसी का भी बड़ा आग्रह था। केशव ने भी पत्र

लिखा था। बैठो, बैठो-ना। अच्छा, मैं यहाँ, यह लो, बैठ गया। लेकिन मैं यहाँ बैठ भी पाऊँगा? नरेश-भैया बैठने भी देंगे! इस समय तो उनकी निगाह बचाकर निकल आया हूँ। सम्भव है, वह मुझे खोज भी रहे हों। ये लो—पुकार हुई न! मैं तो जानता था कि···। शरबत? पी चुका हूँ, अभी-अभी।

"न, यह न होगा। यहाँ भी तुम्हें पीना पड़ेगा।" पलँग के नीचे रखे गिलास की ओर देखकर मालती बोली—लेकन ठहरो। मैं तुम्हें दूसरा बना लाऊँ। यह तो मैं बिट्टी के लिए···।

अवसन्न हो उठी है रानी। हृद्गति उसकी तीव्र हो गयी है। तभी वह कुछ कह नहीं पा रही है। लेकिन इस समय मालूम नहीं क्यों वह चुप नहीं रहना चाहती थी। गिलास की ओर वह बार-बार देख लेती थी। वह ज्यों-का-त्यों रखा हुआ था। मालती के—"यह तो मैं बिट्टी के लिए"—कहने पर वह कहने जा रही थी कि दे दो न, देखती क्या हो मेरी ओर, मैंने उसे अभी पिया नहीं था।

लेकिन उसी क्षण करुणाशङ्कर बोल उठा—अरे, यही बात है न कि इसने होंठ लगा दिये हैं, अथवा एक-आध घूंट शायद पी भी लिया है!—लाओ, दो मुझे।—पूछो इससे। इसके मुँह में अधभरे कन्नौजी गट्टे कितनी बार मैंने मुँह बढ़ाकर ज़बरदस्ती दाँत से काट लिए हैं!—क्यों (रन्नो की ओर देखकर), झूठ कहता हूँ?

किन्तु रानी चुप रही। कुछ भी कह नहीं सकी। मालती विस्मय से उसकी ओर देखती रह गयी। और करुणाशङ्कर ने झट से गिलास उठाकर शरबत के दो घूंट पी लिये। मालती पहले तो

अचकचा गयी। किन्तु फिर उठकर दूसरी ओर जाकर पनडब्बा उठाने चली गयी।

अब करुणाशङ्कर बोला—तुम कुछ बोल नहीं रही हो रन्नो। आखिर मेरे ऊपर इतनी नाराज़ क्यों हो? क्या मेरा आना तुमको अच्छा नहीं लगा? किन्तु रन्नो क्या कहे, कुछ निश्चय न कर सकी। नाराज़ वह उस पर क्यों होने लगी? और उसका आना, वह कैसे कहे कि, उसे अच्छा नहीं लगा।

मालती आकर पान लगाने लगी।

करुणाशङ्कर बोला—शरबत पी ज़रूर चुका था, मगर यह मज़ा नहीं आया था, भाभी। एक-एक घूंट अलग-अलग पीने की इच्छा होती है।

मालती बोली—ज़्यादा बनाओ मत।

"अच्छा, इसमें बनाने की क्या बात है?" करुणा ने कहा—एक तो ख़ुशबू और फिर भाभी के नये गुलाबी हाथों का स्पर्श! लो, मैं तो जानता था न कि यहाँ मेरा दस मिनट भी बैठना हो न सकेगा। नरेश-भैया बुला रहे हैं।

तब, झट से शरबत पीकर वह उठकर खड़ा हो गया।

मालती बोली—पान तो खाये जाओ।

"न; मैं पान-वान नहीं खाने का।....अच्छा, वादा करो कि तुम बराबर मुझे ऐसा ही मधुर—ऐसा ही सुवासित—शरबत पिलाती रहोगी।"

मालती बोली—तुम बारात के साथ क्यों आये? तुमको तो

सीधा यहीं आना चाहिये था। अम्मा कई दिन से बराबर तुम्हारी याद कर रही थीं।...यहीं आ जाओ न? तुमको वहाँ तकलीफ़ न होगी?

"कोई तकलीफ़ नहीं हो सकती मुझे वहाँ। फिर मौसियाजी मुझे आने भी देंगे!"—करुणा ने कहा। वह उस समय रन्नो की ओर देख रहा था।

"अच्छा तो खाना यहीं खा जाया करना। शरबत...।" मालती कहते-कहते अटक गई।

"बस बस, भाभी।" करुणा जैसे भीतर से आन्दोलित होकर बोला—बाक़ी भी मैंने पा लिया।...अच्छा तो अब मैं जाऊँ न?

पान देकर मालती बोली—कैसे कहूँ!

पान खाकर करुणा चला गया। रन्नो एक निःश्वास छोड़ती हुई पलँग पर बैठ गई। फिर बैठते ही लुढ़क रही।

"तुम किस सोच में पड़ गईं बिट्टी?" मालती बोली—एक शब्द तक नहीं बोलीं—अच्छा, मैं तुम्हें शरबत और बना लाऊँ, तब बैठूँ।

वह उठने को हुई, तो रानी ने कहा—बैठो, कहाँ जाती हो! मुझे प्यास नहीं लगी है।

"नहीं नहीं, प्यास ज़रूर लगी होगी।" मालती बोली—"दोपहर को तुमने ऐसा कुछ खाया न था। फिर शाम को भी नहीं खाया। अब इस समय भी तुम्हें प्यास तक नहीं लगी; मैं कैसे मानूँ? करुणा के आ जाने से ही प्यास चली गयी!"

परिहास के व्याज में मालती मुसकरा उठी। किन्तु रानी पूर्ववत् स्थिर रहकर बोली—मुझे पहले भी प्यास नहीं थी भाभी। करुणा-भैया न भी आते, तो भी शरबत मैं पी न सकती।

लेकिन मालती मानी नहीं, चली ही गयी।

रानी उठी और बँगले के बाहर आकर टहलने लगी। वह आकाश की ओर देख रही थी। देखा उसने, एक ओर तारे जग-मगा रहे हैं। चन्द्रमा हँस रहा है। मकान के अन्दर से यदा-कदा कोई स्वर फूट पड़ता है। गाँव के एक कोने पर जहाँ बारात ठहरी है, ग्रामोफ़ोन बज रहा है—ओ काली रैन, यह चन्दहास।

रानी करुणा की एक-एक बात दोहराने लगी—"मैं तो यों ही चला आया। सोचा—रन्नो का ब्याह है। नहीं जाऊँगा, तो वह कहीं बुरा न मान जाय।....यही बात है न कि इसने होंठ लगा दिये हैं, अथवा शायद एक-आध घूट पी भी लिया है? लाओ, दो मुझे।"

उसका अन्तर तीव्र गति से मन्थन करने लगा।

फिर ग्रामोफ़ोन का कोमल स्वर आया—

ओ री काली रैन, तोरे तरस है न।
मैं दरस-परस की एक आस।
ओ काली रैन, यह चन्दहास।

रानी की आँखों में आँसू भर आये। पलँग से उठकर वह एक ओर, छत पर टहलने लगी।

आज दिन-भर पानी नहीं बरसा। घटायें आयीं और चली गयीं। इस समय बादल फिर घिर आये हैं। हवा डोल रही है।

नन्हीं-नन्हीं बूँदे कभी-कभी एक-आध गिर भी जाती है। छत पर लेटी हुई स्त्रियाँ सतर्क हो रही हैं। वे उठकर बैठ गयी हैं और सोच रही हैं कि बरामदों में चली जायँ।

रानी दूसरे मकान की छत की ओर, मुँडेर के पास, खड़ी थी। कच्ची मिट्टी से पटी दीवाल के छिद्र की ओर देखती हुई सोचने लगी अगर यह साँप का बिल हो, तो!

—साँप का बिल? जीवन की काली-काली निर्मम रातों के साथ साँप के इस बिल का कैसा सामञ्जस्य है! उसके जी में आया—यह उस बिल में अँगुली डाल दे, तो कैसा हो!

किन्तु उसी समय बिहँसती हुई मालती आ पहुँचो। बोली—अरे, तुम—तुम यहाँ चली आयीं बिट्टी, और मैं तुम्हें उधर ढूँढ़ रही थी। अम्मा पूछ रही थीं, तबियत तो अच्छी है न। वे ख़ुद आ रही हैं। लो, शरबत तो पी लो।

रानी सोच रही थी—अभी उस दिन एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—इन राजाओं और ताल्लुक़दारों के वैभव की एक-एक वस्तु में भूखे-नङ्गे किसानों की छातीफाड़ मेहनत का पसीना, उनकी कामनाओं का ख़ून और उनके जीवन के अनन्त निःश्वासों की ज्वाला का निवास है। और इसी वर्ग के एक व्यक्ति के साथ उसका विवाह होने जा रहा है। और तारीफ़ यह है कि यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती कि वह उसके लिए हो क्या सकता है!

मालती की बात सुनकर वह एकाएक चौंक उठी। परन्तु उसे

ध्यान आ गया कि बात शरबत पीने के सम्बन्ध की है। तब उसने कह दिया—मुझे प्यास नहीं है भाभो, सच !

मालती बोली—प्यास नहीं है, भूख भो नहीं है। आख़िर क्यों ? सब का विवाह होता है, मेरा भी हुआ था। पर किसी की भूख-प्यास तो इस तरह मिट नहीं जाती। चलो, तुम्हें मेरी शपथ है। लखनऊ से छोटेबाबू थोड़े से ख़रबूज़े ले आये हैं। मैं वही तुम्हारे लिए ले आती हूँ। शरबत पीछे पी लेना।

मालती शरबत का गिलास वहीं रखकर नीचे चली गयी। रानी को ख़याल आ गया, शिवराम कह गया था—केशव के बाबू कहते थे, ऐसे साधारण व्यक्ति की लड़की से अपने केशव का विवाह करने के पक्ष में मैं क़तई नहीं था। जीजाजी के दबाव से ही मुझे यह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ा। पर मैं नहीं जानता था कि ऐसे दरिद्र लोगों के घर जाकर मुझे घोड़ों और हाथियों के लिए साधारण दाना-पानी तक को इस क़दर ज़लील होना पड़ेगा।

—तो ये हाथी और घोड़े, रथ और उन पर आसीन होनेवाले रईस, उनके साहबज़ादे और इष्ट-मित्र विवाह करने नहीं आये। आये हैं मध्यवित्त के एक व्यक्ति की मान-प्रतिष्ठा और उसकी सीमित सामर्थ्य का सर्वनाश करने !

आकाश में एक ओर कुछ जलद-बालाएँ इकट्ठी हो गयी हैं। बूँदा-बूँदी हो रही है। खुली छत पर आराम करती हुई स्त्रियाँ बच्चों और बिस्तरों को लेकर भाग रही हैं। बाहर बिछे हुए पलँग भीतर खिसकाये जा रहे हैं। रानी अभी पलँग से उठकर उत्तर ओर के

दूसरे मकान की छत पर टहल रही थी। ज़रा-सा भीतर होकर वह छप्पर के नीचे आ गयी। उस समय करुणा की एक-एक बात बार-बार उसके मानस पर तैर रही थी—इस शरबत का एक-एक घूँट बिल्कुल अलग-अलग पीना चाहता हूँ भाभी!

—और यह साँप का बिल जो है। यह पीने भी देगा एक-एक घूँट। शरीर और समाज से लिपटे हुए नाते-रिश्ते और बन्धन, सीमाएँ और शृङ्खलाएँ कैसे मज़बूत रहेंगी! सामाजिक रूढ़िवाद की बर्बरता को प्रोत्साहन कैसे मिलेगा!

—वे कितने उत्फुल्ल हो उठे थे! उन्होंने कहा था—अच्छा, वादा करो कि ऐसा ही मधुर और ऐसा ही सुवासित शरबत तुम मुझे बराबर पिलाती रहोगी।

इसी समय फिर ग्रामोफोन से गायन फूटा—

ओ री काली रैन—तोरे लाज है न।
मैं चिर अतीत की तृषित सांस।
ओ काली रैन—यह चन्दहास॥

आँखों में आँसू छलछला आये, कण्ठ रुद्ध हो उठा। भीतर-ही-भीतर जैसे ज्वालामुखी सुलगने लगा। क्या कर डाले वह अपने को! क्या यह नहीं हो सकता कि यह साँप का बिल उसे भी आत्मसात् कर ले! किसी प्रकार उसकी ज्वाला तो शान्त हो।

उसकी माँ आ गयी उसी क्षण। भोले प्यार से उसके निकट जाकर पुचकारती हुई बोली—'रन्नो, रन्नो। कैसा जी है री! तूने आज कुछ खाया नहीं। अच्छा, मिठाई न सही, ये ख़रबूज़े तो

खा ले। करुणा ले आया है तेरे लिए।"

बूँदा-बूँदी बन्द हो गयी थी। फ़र्श से सोंधी .खुशबू उड़ रही थी। मालती ने ठण्ढी छत पर एक ओर शीतलपाटी बिछवा दी। उसी पर बैठ गयी रानी और उसकी माँ। मालती .खरबूज़े छीलने लगी। एक फाँक उठाकर माँ ने रानी के मुँह से लगा दिया—हाँ, बस, खा तो ले मेरी रन्नो। सौभाग्य के ऐसे शुभ दिन में कोई कोरा उपवास करता है!

"माँ को कौन समझाये कि यह शुभ दिन रन्नो के लिए क्या है!—कैसा है यह सुन्दर सौभाग्य-दिवस!" सोचती हुई रानी कुटिल हास से सस्मित हो उठी।

थोड़ी देर में माँ चली गयीं। तब रानी बोली—बस, भाभी। अब तुम खा लो। बड़ा स्वादिष्ट ख़रबूज़ा है; सच।

"टके-भर का ख़रबूज़ा, और उसमें भी मैं हिस्सा बटाऊँ! ना", मालती मदिरहास से बिलसती हुई बोली—यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

किन्तु रानी ने उत्तर दिया—भूलती हो भाभी। हिस्सा तो मनुष्य इस नन्हीं-सी—मूक—जीवन की साँस तक में लगाता है। ख़रबूज़ा फिर भी कुछ बड़ी चीज़ है।

मालती रानी की ओर इकटक देखती रह गयी।

तब रानी बोली—अच्छा, ज़रा-सा ही चख लो।

मालती ने एक फाँक उठाकर खा ली।

दौड़ी-दौड़ी 'मूँगा' नौकरानी इसी समय आकर बोली—बहूजी,

आपको माँ जी बुला रही हैं।

मालती चली गयी।

शरबत पीकर रानी अब उठकर कच्चे मकान की ओर टहलने लगी। अबकी बार उसने देखा, सचमुच वह बिल साँप का ही है और वे महाशय उस बिल से बाहर निकलकर फूटी गगरी के गोल मुख में चुपचाप बैठे हवा के ठण्डे झकोरे ले रहे हैं।

रानी पहले तो सकपका गयी, बल्कि दो क़दम पीछे भी हट गयी। किन्तु फिर कुछ सोचकर वहीं टहलने लगी। अब उसे किसी प्रकार का भय न था—कोई आशङ्का न थी। किसी से कुछ कहने की आवश्यकता भी उसे प्रतीत नहीं हुई।

कच्चे मकान की छत उसके इस बड़े पक्के मकान से कुछ नीची पड़ती है। रानी उस समय वहीं टहल रही थी। उसी क्षण इधर-उधर से घूमता हुआ आ पहुँचा करुणाशङ्कर। छत की मुंडेर पर एक ओर बैठता हुआ वह बोला—इधर आओ रन्नो, इधर। मुझे तुमसे बिदा-माँगनी है।

रानी बढ़ने को हुई, किन्तु ज़रा-सा रुक गयी। उसकी गति असंयत हो गयी थी। उसके हृदय का कम्पन बढ़ गया था। उसे ऐसा बोध होने लगा था, जैसे वह उड़ रही है, उसके पैर भमि पर नहीं पड़ रहे हैं।

करुणाशङ्कर उसी क्षण बोल उठा—मैं केवल आज-भर के लिए आया था रन्नो!

किसी प्रकार रानी करुणाशङ्कर के निकट आकर, उसके कन्धे से लगकर, धीरे-धीरे, शिथिल गति, किन्तु आर्द्रवाणी में बोली—मैंने

कितने दिन से सोच रखा था कि तुम आज के दिन आओगे जरूर आओगे।

"हाँ रन्नो, मैंने सोचा—मुझे जाना ही चाहिए। इसीलिए....। किन्तु तुम इतना घबराती क्यों हो? यह तो पहले से ही निश्चित था। हम लोगों का मन-प्राण एक है। हम लोग विलग तो कभी हो ही नहीं सकते!"

तब करुणा के कन्धे पर सहारा देकर रन्नो बोली—पर तुम तो अभी कह रहे थे, मुझे तुमसे बिदा माँगनी है।

"हाँ रन्नो" करुणाशङ्कर कहने लगा—बात यह है कि मैं केवल आज-भर के लिए आया था।

"लेकिन बिदा....तो...तुम्हें....अब...मुझे देनी पड़ेगी।" वह सिसकियाँ भरती हुई बोली। उसका स्वर कुछ अस्पष्ट हो उठा।

× × ×

बात की बात मे एक जन-समूह तब उस छत पर इकट्ठा हो गया। रन्नो निश्चेष्ट पड़ी थी। उसे अब अपने शरीर और उसके रिश्तों, समाज और उसके अधिनायकों, जगत् और उसके स्वरूप से कुछ कहना नहीं था। उसके बाम पैर के अँगूठे के पास का रक्तरञ्जित गाभा तब तक काला पड़ गया था।

किन्तु ग्रामोफोन का वह रिकार्ड सुई बदलकर फिर दुबारा लगा दिया गया था। अब भी उससे वही गायन फूट रहा था—

ओ काली रैन—यह चन्दहास।

———

सत्य का पाप

दिन चढ़ रहा है और जाड़े के दिन हैं। जानकी चक्की पीस कर उठी है। लक्खी जुआँर की रोटी आम की खटाई के साथ खाकर उठा है। सरो बर्तन मल रही है।

सरो अब सयानी हो गई है। युवकों के सामने आने में अब वह लजाने लगी है। माँ से कह नहीं सकती और मन मसोस कर रह जाती है।

माँ जानकी बुड्ढी है। दो दाँत गिर गये हैं। बाल सफ़ेद अधिक हैं, काले कम। कानों से कुछ कम सुनाई देता है। आंखों की ज्योति भी कुछ मन्द हो गई है।

सरो के एक छोटा भाई है, लक्ष्मण। नाम लखनलाल पड़ गया

है। लेकिन गाँव का जीवन ठहरा। अधिकतर लोग लक्खी कहकर ही पुकारते हैं।

लक्खी स्कूल जाने की तैयारी में है। कोट उसका खादी का है और कुहनियों के फटे भाग से बोल रहा है। पैरों में जूता नहीं, कानों पर गमछा बाँध लिया है। माँ जल्दी सुनेगी नहीं, इसीलिए बोला—दीदी, फ़ीस गुरुजी माँगते हैं। तुमने कहा था—कल दूँगी। लाओ दो।

"फ़ीस! हाँ फ़ीस·········। गुरुजी से कहना, अभी है नहीं, दो-चार दिन में देंगे।"

"ना दीदी। गुरूजी नहीं मानेंगे। हमें फिर भेजेंगे। बिना फ़ीस लिये हम नहीं जायंगे!"

सरो चुप रह गई है। कोई जवाब उसके पास नहीं है। तभी लक्खी बस्ता-पट्टी छोड़ दरवाज़े पर आकर गुल्ली-डंडा खेल रहा है।

२

"अम्मा-अम्मा, अरी ओ अम्मा। भूख लगी है। खाने को दो।"

लक्खी आज बिना कुछ खाये स्कूल चला गया था। दोपहर बीत जाने पर भूख से व्याकुल होकर लौटा है। मुँह उदास हो रहा है। आँखें बैठी जा रही हैं। पेट में आग लगी है।

"बेटा, सरो नाज लेने गयी है। आती ही होगी। ज़रा ठहर जा बेटा।"

जानकी रो नहीं सकती। इसी तरह रो-भींखकर तो उसने ये

सात वर्ष काटे हैं। आँखों के पीछे आँसुओं का सोता सूख गया है। सोचती है, दुनियाँ में कितने आदमी रोज़ मरते हैं और मुझे बुख़ार भी नहीं आता।

लक्खी को छाती से चिपटाकर पुचकारती है—मेरा लक्खी राजा-बेटा है। थोड़े से चने रक्खे हैं भुने हुए। वही चबा ले तब तक। सरो आने ही वाली है। वह आयी कि झट से थोड़ा-सा आटा निकालकर मैं अपने मुन्ना को रोटी सेक दूँगी।

लक्खी को रोज़-रोज़ चने चाबना स्वीकार नहीं है। वह मचल उठता है—

चने हम नहीं चबायेंगे। हम तो रोटी ही लेंगे—रोटी, रोटी।

उसके भीतर भूख की जो ज्वाला है, वह वाणी पर उतर आयी है।

जानकी भीतर जाकर चने ले आयी। लक्खी को टोकरी (खजूर की पत्तियों की बुनी) में देकर बोली—ले, तब तक थोड़ा सा चाब ले बेटा। ज़िद नहीं की जाती। हम ग़रीबों को ज़िद चाहिये भी नहीं।

और झपट्टा मारकर लक्खी सारे-के-सारे चने आँगन भर में बिखेर देता है।

"चने चबा ले, चने चबा ले!" अपरूप होकर, टेढ़ा मुँह करके लक्खी बोला—"हम नहीं चबायेंगे चने!...नहीं! कभी फ़ीस नहीं कभी खड़िया मिट्टी नहीं—धोती फटी है, कोट बनवा न सकी। जूता पहनने को तरस रहा हूँ। आज कहती है—रोटी भी नहीं है। माँ

है। लेकिन गाँव का जीवन ठहरा। अधिकतर लोग लक्खी कहकर ही पुकारते हैं।

लक्खी स्कूल जाने की तैयारी में है। कोट उसका खादी का है और कुहनियों के फटे भाग से बोल रहा है। पैरों में जूता नहीं, कानों पर गमछा बाँध लिया है। माँ जल्दी सुनेगी नहीं, इसीलिए बोला—दीदी, फ़ीस गुरुजी माँगते हैं। तुमने कहा था—कल दूँगी। लाओ दो।

"फ़ीस! हाँ फ़ीस.........। गुरुजी से कहना, अभी है नहीं, दो-चार दिन में देंगे।"

"ना दीदी। गुरूजी नहीं मानेंगे। हमें फिर भेजेंगे। बिना फ़ीस लिये हम नहीं जायंगे!"

सरो चुप रह गई है। कोई जवाब उसके पास नहीं है। तभी लक्खी बस्ता-पट्टी छोड़ दरवाज़े पर आकर गुल्ली-डंडा खेल रहा है।

२

"अम्मा-अम्मा, अरी ओ अम्मा। भूख लगी है। खाने को दो।"

लक्खी आज बिना कुछ खाये स्कूल चला गया था। दोपहर बीत जाने पर भूख से व्याकुल होकर लौटा है। मुँह उदास हो रहा है। आँखें बैठी जा रही हैं। पेट में आग लगी है।

"बेटा, सरो नाज लेने गयी है। आती ही होगी। ज़रा ठहर जा बेटा।"

जानकी रो नहीं सकती। इसी तरह रो-झींखकर तो उसने ये

सात वर्ष काटे हैं। आँखों के पीछे आँसुओं का सोता सूख गया है। सोचती है, दुनियाँ में कितने आदमी रोज़ मरते हैं और मुझे बुख़ार भी नहीं आता।

लक्खी को छाती से चिपटाकर पुचकारती है—मेरा लक्खी राजा-बेटा है। थोड़े से चने रक्खे हैं भुने हुए। वही चबा ले तब तक। सरो आने ही वाली है। वह आयी कि झट से थोड़ा-सा आटा निकालकर मैं अपने मुन्ना को रोटी सेक दूँगी।

लक्खी को रोज़-रोज़ चने चाबना स्वीकार नहीं है। वह मचल उठता है—

चने हम नहीं चबायेंगे। हम तो रोटी ही लेंगे—रोटी, रोटी।

उसके भीतर भूख की जो ज्वाला है, वह वाणी पर उतर आयी है।

जानकी भीतर जाकर चने ले आयी। लक्खी को टोकरी (खजूर की पत्तियों की बुनी) में देकर बोली—ले, तब तक थोड़ा सा चाब ले बेटा। ज़िद नहीं की जाती। हम ग़रीबों को ज़िद चाहिये भी नहीं।

और झपट्टा मारकर लक्खी सारे-के-सारे चने आँगन भर में बिखेर देता है।

"चने चबा ले, चने चबा ले!" अपरूप होकर, टेढ़ा मुँह करके लक्खी बोला—"हम नहीं चबायेंगे चने!...नहीं! कभी फ़ीस नहीं कभीं खड़िया मिट्टी नहीं—धोती फटी है, कोट बनवा न सकी। जूता पहनने को तरस रहा हूँ। आज कहती है—रोटी भी नहीं है। माँ

बनती है। तू मर क्यों नहीं जाती ? हम भीख माँग लेंगे।"

पाजी आँखें ! जानकी रो पड़ी। सिसकियाँ फूट पड़ी। उभर-उभरकर छाती फूल उठती है। लक्खी ने आज कह दिया—तू मर क्यों नहीं जाती ! रोटी नहीं दे सकती और माँ बनती है !!

शैतान मनुष्य बन गया है। विद्रोह को लज्जा ने पकड़ लिया है उसने उससे ऐसी कड़ी बात कह दी।

लक्खी दौड़कर माँ की गोद में सिर छिपाकर रो पड़ता है—अम्मा-अम्मा !

३

"ओः सरोजिनी ! आज कैसे भूल पड़ी ?" कहते-कहते कालका की आँखों के पलक, भृकुटियों की कोरें, होठों के जोड़ हँसे, बंकिम और विकसित हो पड़े।

कालका बनियाँ है। माँ पति को छोड़ दूसरे के साथ भाग गयी थी। जाति से बहिष्कृत होने के कारण विवाह उसका हो नहीं सका। हट्ट-कट्टा तबियतदार आदमी है। रंग साँवला, मुँह पर चेचक के दाग़। सिर पर बालों का गुलदस्ता ! नाक लम्बी और मूछें घनी।

सरोजिनी को आया जान प्रसन्नता से पुलकित हो उठा है।

सरो चुपचाप खड़ी नहीं रह सकी। बोली—जुआँर है तुम्हारे यहाँ ?

"सब चीज़ है तुम्हारे लिये। न भी होगी तो आ जायगी। इधर निकल आओ। खड़ी क्यों हो ?"

"यहीं ठीक है। बातें नहीं, जुआँर चाहिये।"

"तो यह कहो कि नाराज़ हो !"

"आप जुआँर देंगे, या लौट जाऊँ ?"

"कह तो दिया, जुआँर ही क्या, मैं हरएक चीज़ दे सकता हूँ। आसमान के तारे भी। लेकिन मैं कहता हूँ, वहाँ खड़े-खड़े तो मिल न जायगा।"

"आपकी बातें मुझे पसन्द नहीं। लक्खी भूखा-प्यासा आया होगा। मुझे बहुत जल्दी है। ये बातें तुमको अच्छी लगती हैं, पर मुझको मेरे कलेजे को, चीर डालती हैं !"

"ओह ! यह बात है । तो जुआँर ले जाओ। और भी जो चाहे ले जाओ । तुम्हारे लिये मैं इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन..........!"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। लाओ दो झट से जुआँर ! हाँ, दाम अभी नहीं हैं। दस-पांच दिन में दे जाऊँगी।"

"दामों की क्या बात है सरोजिनी। मिल ही जायेंगे । न भी मिलेंगे, तो परवा नहीं । लेकिन तुम्हारा तो दर्शन दुर्लभ रहता है।"

"बड़े दुष्ट हो तुम। बने हुए !"

कालका इकटक सरो को देख रहा है । वह सोचता है यह लट घूमकर मस्तक पर आ गई है, काली-काली। उसे सच पूछो तो वहाँ कपोल पर आना चाहिये था। इन कानों में जो काँच के बुन्दे लटक रहे हैं, सोने के होकर जब झूलेंगे.......... !

"तुम्हारी गाली भी मुझको प्यारी लगती है सरो।"

"मैं नुआँर नहीं लूँगी अब। हैं भूखों मर जाऊँगी।"

"लो, फिर नाराज़ हो गई!"

"मुझसे ऐसी बातें मत किया करो।"

... ...

....

सरोजिनी कमरे के अन्दर जाती है।

४

लक्खी को कोट बन गया है, जूता आगया है। रोटी भी उसको वक़्त पर खाने को मिल जाती है। सरो को नयी साड़ी आ गयी है। सलूका उसने ऊनी कपड़े का बढ़िया बनवाया है।

"—अम्मा, कालका बड़ा भला आदमी है। ज़बर्दस्ती मेरे गले लगा दिया यह सब। मैं मना करती रही। पर वह माना नहीं किसी तरह। बोला—तुम ब्राह्मण हो, देवता के समान। तुमको न मानूँ तो यह सारा रुपया-पैसा है किस दिन के लिये!

"अम्मा, कालका कहता था—तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं है। पुराने पापों का फल भोग रहा हूँ। तुम लोगों के दुख-दर्द में हाथ बटाने के बहाने जो कुछ कर सका, बस उतना ही तो साथ जायगा।

"—अम्मा, वह सचमुच बड़ा उदार है। उसके हृदय में दीन-दुखियों के लिये दया है।.........अरे! तुम तो चुप हो। तुम्हें विश्वास नहीं होता!

इन बालों में सफ़ेदी धूप लगने से नहीं आयी। दुनियाँ के रंग-

ढँग देख-देखकर ही जानकी के मुँह की रेखाएँ आज गहरी हुई हैं। दाँत जो गिरे हैं उन्होंने बड़े-बड़े, आसमान को छूते हुए, ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ों को जड़ों की हड्डियों-पसलियों से टूटते और फटते देखा है। कान जो उसके बहरे पड़े हैं, उन्होंने मालूम नहीं कितने वर्ष के आँधी-पानी, लू-लपट, प्लेग-महामारी, चोरी और डाकेज़नी, मारकाट और लूट के ध्वंसकारी तुमुलनाद को सुना है। आँखों की ज्योति जो मन्द पड़ी है, उसने विलास और भोग की नग्नता से लेकर मृत्यु की कालरात्रि के भयानक अट्टहास तक को देखा और टटोला है।

चिनगारियाँ फैल गयीं उसके मुख पर। आँखें तो जान पड़ा, जैसे बाहर निकल पड़ेंगी। होंठ फड़क-फड़ककर मानों फट जाना चाहते हैं। लोम-लोम जल रहा है उसका। हाथ काँप-काँप उठते हैं।

"तू मर जा कलमुँही। तेरी लाश अभी निकले यहाँ से। मेरी आँखों में धूल डालने चली है। कालका तेरा बाप नहीं है, बाबा भी नहीं है। दुनियाँ की आँखें बिल्ली की हैं। वे चुहियों की ताक में रहती हैं। आखिर दबोच ही लिया न उसने! अभी तो यह छोड़-भर दिया पल-भर को। बस, अब जबड़ों से चबा जाने-भर की देर है। लात मार दे मेरी छाती पर कस के, इतने ज़ोर से कि मैं यहीं ढेर हो जाऊँ! नहीं तो गँड़ासा उठा ला और मेरे इस गले पर हाथ भर कर दे मार। सरोजिनी बनती थी! अरी चांडालिन, कुतिया है तू। तूने सरे बाज़ार अपनी जवानी लुटा दी है! निकल यहाँ से पापों की गठरी। सूरत भी जो कभी दिखलायी, तो ख़ून पी लूँगी।

अब मैं तेरी माँ नहीं हूँ। डायन हूँ—सर्पिणी। तुझे डसकर मानूँगी !"

अब सरो क्या उत्तर दे ? वह रो नहीं सकती। रुदन तो हृदय की पवित्रता के झरने से फूटता है। जहाँ वञ्चना है, कपट, ऊपर कुछ है और भीतर कुछ और, वहाँ प्रायश्चित्त नहीं, पैशाचिक कुटिलता की काली काली मूकता होती है। नागिन के समान चक्कर बाँधकर देह को समेटकर बैठती है वह।

उसने खाना नहीं खाया। अपने आप बोली नहीं वह माँ से। बराबर कई दिन तक। काम में ही लगी रही। बर्तन मले और माँ के साथ चक्की पीसी। माँ ने खाना खिलाने की चेष्टा की, अपनी शपथ दी, तो कहने-भर को थोड़ा-सा खा लिया।

जानकी ने समझ लिया, सरो ने अपनी भूल सुधार ली है। वह अब कभी उस रास्ते न जायगी। उस दिन रात को वह जब सरो को एक ओर पुआल पर, बगल में ही लिटाकर सोई, तो उसे बहुत समझाती रही। सरो ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"मेरी सरो क्या ऐसी नासमझ है ?" जानकी ने सोच लिया—जो मेरी बात नहीं मानेगी। न, ऐसा नहीं हो सकता। भोली सरो, जानती नहीं कुछ। वह लोगों पर विश्वास कर लेती है। उसे क्या मालूम कि दुनियाँ लुटेरों की है। मैंने उस पर सन्देह जो किया, वह झूठा था। पाप उसमें आया नहीं।

वह रो पड़ी—"मेरी सरो, तूने मुझे माफ़ कर दिया न !"

लेकिन सरोजिनी तो भी चुप थी।

५

"ओह तुम हो सरोजिनी! अच्छा तो मिट्टी का तेल लेने आई हो!"

"तुमने कहा था, कोई ऐसी दवा देंगे जिसके खा लेने पर……।"

कहकर सरो चुप हो गई। इधर-उधर देखने लगी—कोई सुन तो नहीं रहा है!

"हाँ, कहा था। अभी वैद्यजी से वह दवा लेने जा नहीं सका, फ़ुरसत नहीं मिली। पर तुम चिन्ता मत करो सरो, दवा हम जरूर ले आयेंगे। बस, दो-तीन दिन की मोहलत दो।"

६

सरोजिनी ने दवा खा ली है। पर दवा खाते ही उसे उल्टी हो गई थी।

कई दिन से सरोजिनी बहुत उदास है। वह एकान्त में रोयी भी है। उसने निश्चय किया है, अब वह दवा न खायेगी। बच्चे के देखने को उसका जी छटपटाता है। दूसरों के बच्चों को पाकर वह उन्हें खिलाये बिना मानती नहीं, चूमती है और वक्ष से लगा लेती है। ऐसा ही दिन उसे भी देखने को मिलेगा।

परवाह नहीं है उसे, परिणाम क्या होगा। वह माँ को छोड़कर कालका के साथ रहने को तैयार है। ज़िन्दगी का सुख वह देखना चाहती है। कब तक चुप रहकर आँसू पोती रहे। आँसू पीने के लिये ज़िन्दगी नहीं बनी। मनुष्य का शरीर पाकर क्यों वह उसका असली रूप देखने से वंचित रहे!

दिन चल रहे हैं।

एक और दिन आता है—हृदय में हाहाकार छिपाये, आँखों में आँसू भरे, सरोजिनी कालका के द्वार पर खड़ी है चुपचाप।

"क्यों सरो, आज उदास क्यों हो?"

"मुझे मार डालो तुम। मेरा ख़ून कर दो। माँ से मैं अपने को कैसे छिपाऊँ? पहली दवा से कुछ नहीं हुआ। मैं दुबारा खा न सकी। मैं बच्चे को देखना चाहती हूँ। मैं उसकी माँ हूँ, वह मेरा लाल है। मैं कैसे उसका ख़ून करूँ? तुम मुझे यहाँ से कहीं दूर बहुत दूर भगा ले चलो। नहीं तो मैं प्राण खो दूँगी।"

"घबराओ नहीं सरो। दस-पाँच दिन और ठहरो। मैं इन्तिज़ाम कर लूँ, तब चलूँ। रुपया बहुत फैला है। वसूल कर लूँ, तब तो चलूँ।

७

"मैं कुछ नहीं जानता, तुम जहाँ चाहो चली जाओ। मुझसे कोई मतलब नहीं। मेरा कहना तुमने क्यों नहीं माना?—क्यों दुबारा दवा नहीं खायी?"

"धूर्त, अब ऐसी बातें करता है! इस तरह का जवाब देते तेरी ज़बान कटकर गिर क्यों नहीं जाती? कुछ ख़याल है तूने क्या-क्या वचन दिये थे? कहा था कि कुछ नहीं होगा, मैं सब ठीक कर दूँगा। कहा था कि मैं लखनऊ चलकर रहूँगा। मेरे पास काफ़ी रुपये होंगे। हम लोग अपनी एक सोने की दुनियाँ बसायेंगे। अब वह तेरी सोने की दुनिया क्या हुई?"

"भाग तो यहाँ से, कुतिया कहीं की ! ज़बान लड़ाती है। कह दिया एक मरतबे, मैं कुछ नहीं जानता, मुझसे कुछ मतलब नहीं। मेरी सोने की दुनियाँ यहीं बसी हुई है। रुपया है तो तेरी जैसी पचास हैं !"

"दोग़ले हो तुम। तुम्हारी पैदाइश में फ़र्क़ है। बात कहकर मुकर गये !" सोचती है—माँ तो छूट ही गयी, अब भाई भी छूटता है ! रोती-रोती चल देना चाहती है। लेकिन बीती बातें उभर-उभर उठती हैं—"ज़मीन से स्वर्ग में उठाकर एकबारगी तुमने मुझे मिट्टी में मिलाया है ! मेरी आशा के फूल को तुमने पैरों से रौंद डाला है! मेरी छाती में प्यार के सोते छौने को तुमने अङ्गार फेंककर मारा है। क़साई हो तुम। मीठा-मीठा खाकर—कड़वाहट से मुँह फेरकर—तुमने मनुष्य होकर कीड़े का काम किया है। नाव पर सैर कराने के बहाने उसमें बैठकर, फिर आगे बढ़ने पर बीच धार में धक्का देकर, तुमने हत्यारे का काम किया है। तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है !

"जा जा। नहीं तो जूते से बात करूँगा।"

"जूते से बात कर अपनी उस माँ से, जो तुझे पैदा करके काला मुँह कर गई थी। मेरी ओर बढ़ा तो मैं तेरा खून पी लूँगी, पिशाच !"

और तब कालका धक्का देकर उसे घर से बाहर निकाल देता है।

८

अँधेरा हो गया है, लक्खी को स्कूल से लौटे देर हुई।

"अम्मा, दीदी कहाँ गई है ?"

"दीदी! दीदी जहन्नुम की सैर करने गयी है, तू तो नहीं जायगा? तेरी इच्छा हो, तो तू भी चला जा।"

"अम्मा, तुम नाराज़ क्यों होती हो? मैं तो यूँ ही पूछ रहा हूँ। सच बताओ अम्मा, कहाँ गई दीदी!"

"बतला तो रही हूँ बेटा, मैं झूठ थोड़े ही कहती हूँ। तेरी दीदी तेरे पिता के नाम यज्ञ करने गयी है। अब तक वे नरक में पड़े सड़ रहे थे। अब वह उन्हें स्वर्ग में ले जा रही है। विमान पर वह बैठी होगी और देवता लोग उस पर फूलों की वर्षा कर रहे होंगे।"

"अम्मा, आज तुम कैसी बातें कर रही हो! क्या हो गया है, तुमको?"

"मेरा लक्ष्मण।"

बात कहते-कहते कण्ठ भर आता है, आँखों से अश्रुधारा बहती है! पुचकारती है, लेकिन सिसकियाँ उभर-उभर उठती हैं!

रात ज़्यादा चली गई है। लक्ष्मण की नींद टूट जाती है।

"—अम्मा, दीदी नहीं आई।"

"नहीं आई बेटा। अब वह न आयेगी।"

"अम्मा, दीदी!"

लक्खी रो रहा है।

"—अम्मा, दीदी मुझे बहुत प्यार करती थी।

"—अम्मा, वह मुझे पेड़ा खिलाती थी।

"—उसने मुझे कोट नया-नया बनवा दिया था। और टोपी,

और जूता। अम्मा, जूता तो फट भी गया। तुम मुझे नया ले दोगी ?"

जानकी निःश्वास लेती है।

"हाँ बेटा, मैं तुझे नया ले दूँगी।"

जानकी को याद आता है—जाते जाते भी वह कुछ रुपये छोड़ गयो है।

९

नाव आ रही है। एक नारी बैठी है, दो व्यक्ति और भी हैं। वार्तालाप चल रहा है।

"नदी बहुत गहरी है, आत्मा।"

"हाँ, गहरी है। लेकिन इससे ज़यादा गहरी चीज़ें दुनियाँ में पड़ी हैं।"

"तुम क्या कह रही हो आत्मा! अगर तुम्हारा मतलब समुद्र से है…तब तो कोई बात नहीं। लेकिन तुम अगर कहना चाहती हो कि आदमी……।"

"हाँ आदमी, आदमी ही जवाहर!"

"तुम ग़लती पर हो……पर वह देखो उधर, वह एक स्त्री……!"

"हाँ स्त्री है। लेकिन यह क्या, दौड़ो, कूद पड़ो जवाहर, बचाओ उसको! बेचारी मालूम नहीं किस सदमे के कारण जान दे रही है।"

१०

ज़िन्दगी को मौत के हाथ बेचना एक नादानी है सरोज। फिर

अभी तुम्हारी उमर ही क्या है। अभी तुमने सुख नाम की चीज़ को देखा और पाया कितना है। यहाँ पहुँच कर अब तुम हिचक और बन्धन को पार कर आई हो। आँखें खोलकर देखो, कितना चौड़ा मैदान पड़ा हुआ है। हँसो और खेलो, दौड़ो और उछलो भी तो ज़रा। रोने का यहाँ काम ही क्या है ?

"ज़िन्दगी मज़ाक नहीं है सरोज। पत्थर के टुकड़े को हाथ पर तौल कर देखो। देखो, जितना वह कड़ा है, उससे कहीं ज़्यादा भारीपन भी है उसमें। फेंक देने पर भी वह खो नहीं जायगा। जहां पहुँचेगा, वह पड़ा रहेगा। ठोकर से उसे चाहे जितनी दूर फेंक दो, लेकिन वह लज्जित न होगा। तुम्हें चोट ही सम्भव है, वह पहुँचा दे। लेकिन तराशकर और छीलकर, घिस-घिसकर चिकना बनाकर चाहो तो तुम उसमें अपनी इच्छा के अनुसार रूप भर सकती हो, प्राण उसमें डाल सकती हो। पर तुमने तो उसे फेंक ही देना चाहा था। तुम्हारी जीत उसमें कहाँ थी। पड़ा-पड़ा वह तुम्हीं पर हँसा करता।

११

सरोज की इच्छायें पनप रही हैं। वह माँ बन गई है। बच्चे को खिलाती है और पढ़ती है। उसे गाना सिखलाने के लिये उस्ताद नियत है।

जानकी पन्द्रह दिन बाद ही स्वर्ग सिधार गई थी। लक्ष्मण को उसका मामा ले आया था, वह स्कूल में पढ़ रहा है।

दिन चल रहे हैं।

देहात की हालत ख़राब है। महँगी के कारण लोगों की ज़िन्दगी

संकट में हैं। डाके दिन-दहाड़े पड़ रहे हैं। कालका के यहाँ चोरी हो गई है। रुपया और गहना तो सब चला ही गया है, रुक्का तमस्सुक और बहीखाता तक नहीं बचा है। रंज के कारण कालका काँटा हो रहा है।

धीरे-धीरे बारह वर्ष व्यतीत होते हैं।

१२

लक्ष्मण अब कालेज का छात्र है। मित्रों के साथ मटरगश्ती करने निकल पड़ता है तो दस-ग्यारह बजे से पहले नहीं लौटता।

"चलो बढ़ो आगे लक्ष्मण, खड़े कैसे हो गये?"

"यार तुम्हीं चलो आगे। मेरी तो हिम्मत नहीं पड़ती। हृदय धक्-धक् कर रहा है।"

"सियार कहाँ के। नाम लक्ष्मण और स्वभाव चूहे का। अरे खा थोड़े ही जायगी। बढ़ो यार, रहे तुम भी बस चुगद ही।"

"तुम्हीं चलो आगे।"

विशाल आगे-आगे चलता है, लक्ष्मण पीछे-पीछे।

लौटने पर—

"कहो लक्ष्मण, क्या राय है?"

"राय मत पूछो विशाल।"

"क्यों, खो दिया न आखिर अपने को! मैं तो पहले ही कहता था—नम्बर एक है।

१३

"तुम तो कहते थे, मेरा नाम कुन्दन है। लेकिन तुम्हारी जेब

का यह परचा तो कुछ और ही कुछ बतलाता है।"

"तो क्या हुआ ? मुझमें कुन्दन नाम की चीज़ तुमको मिली नहीं क्या ? परेशान कैसी नज़र आती हो, मेरी गुलाब ?"

"कुछ नहीं, यों ही। मेरी तबियत ठीक नहीं है कुन्दन। मैं अब सोऊँगी। तुम जाओ।

"बात क्या है, कहो न साफ़-साफ़ !"

"तुम यहाँ से चले जाओ कुन्दन। अभी, इसी समय।"

सरोज का सिर चकराता है। दीवाल से लगकर वह गिर जाना चाहती है।

लक्ष्मण हतप्रभ होकर वापस लौटता है।

१४

दूसरे दिन सायंकाल।

"यहाँ दरवाज़े पर क्यों पड़ा है रे ? चल, हट यहाँ से ! दुनियाँ भर के कीड़े यहीं आकर मरना चाहते हैं।"

"एक पैसा बाबू।"

भिक्षुक नाक के स्वर से बोलता है। हाथों और पैरों में घाव हैं। पीब की बदबू उड़ रही है। चिथड़ों से अलग दुर्गन्ध फूट रही है। मक्खियाँ भिनभना रही हैं।

"ले पैसा। अब चल यहाँ से।"

"कहाँ जाऊँ बाबू, यहीं तो मरना है।

१५

गली से बारनारियों का एक दल निकलता है, फिर एक शव।

"हटो, रास्ता दो बाबू। एक तरफ़ हो जाओ ! ग़ज़ब हो गया !"

"क्या हुआ भाई ?"

"कैसे बताऊँ, क्या हुआ ? एक साहब कल मिस गुलाब के यहाँ आये थे। नाम अपना वे कुन्दन बतलाते थे। बस, उनके चले जाने के बाद से ही मालूम नहीं उसे क्या हो गया ! ख़ुदा जाने, क्या बात हुई !"

तब तक आत्मा आ पहुँची। बोली—अपने आघात को दबाते हुए—

"ओः ! तुमने उसे मार डाला बाबू। भला ऐसा भी कोई करता है ! लेकिन मैं तुमको भी क्या कहूँ ?········बस, आप जाइये यहाँ से। देर मत कीजिये। ख़ैरियत इसी में है। जाइये। मैं कहती हूँ, जाइये।"

लक्ष्मण ने पूछा—क्यों ? आख़िर क्यों ??

आत्मा इसबार अपने को सम्हाल नहीं सकी। बोली—यह मत पूछो बाबू—कहा मानो, मत पूछो।

———

विच्छेद

कुछ दिनों से नगर के इस अन्तिम भाग में, राजपथ से लगे हुये एक बँगले में, राजकुमारी मृणाल की कोठी के निकट ही, एक ऐसा व्यक्ति आ गया है, जो नित्य प्रातःकाल, राजपथ पर टहलता हुआ, मृणाल को मिल जाता है । मृणाल से उसका कोई परिचय नहीं है। किन्तु अपने स्वरूप, तेज और लक्षण में मृणाल के लिए, निश्चय ही वह कुछ विशिष्ट है। एक दिन प्रातःकाल उसी राजपथ पर भ्रमण के लिए मृणाल अकेली जा रही थी। पीछे से थोड़े फ़ासले पर दो दासियाँ चल रही थीं। वह व्यक्ति राजपथ से लगे खेत की मेंड़ पर बैठा कुछ देख रहा था। उधर से गुज़रती हुई मृणाल के मन में आया, देखूँ—ये महाशय यहाँ क्या कर रहे हैं। जब अपने

इस कुतूहल को किसी प्रकार संयत न कर सकी, तो वह झट से वहाँ जाकर खड़ी होगई। देखा उसने, लाल चींटियाँ एक चिड़िया के बच्चे से लिपटी हुई हैं और वह बच्चा दम तोड़ रहा है। एक बार ज़रा-सा सिर उसका हिल उठा, पङ्ख थोड़े कम्पित हुए और बस सब समाप्त हो गया। अब उस व्यक्ति ने सिर उठाकर जो देखा, तो मृणाल की ओर देखकर मुस्कराते हुए कह दिया—पञ्छी उड़ गया! यद्यपि चींटियाँ उसे घसीटे लिये जा रही थीं।

मृणाल बोली—महोदय, क्या मैं आपका परिचय पा सकती हूँ?

उत्तर मिला—परिचय! कितने दिन से नित्य मैं आपका दर्शन करता हूँ। नित्य ही आप सड़क पर घूमती हुई मिला करती हैं। तो भी आपको अभी तक मेरा परिचय मिलना शेष है!

"हाँ, महाशय"—मृणाल बोली—"व्यक्ति के भीतर का परिचय ही तो बस नहीं है। उससे संलग्न समाज, संस्कार और जीवन भी तो जानना पड़ता है।"

उत्फुल्ल वाणी में उसने उत्तर दिया—मान लो, मेरा नाम पङ्कज है। कीचड़ में मेरा जन्म हुआ है। सरोवर मेरा प्रान्त है। संसार पर हँसना और मुस्कराना मेरा व्यसन, राजकुमारी।

मृणाल स्तब्ध हो उठी।

अब नित्य वह सड़क पर आकर उससे मिल जाती। वार्तालाप के अनन्त प्रसङ्ग आते और वह दार्शनिक निर्विकार मन से बातें करता रहता।

एक दिन।

"वे तीन व्यक्ति एक इक्के पर कहीं जा रहे हैं। कहाँ जा रहे हैं, यह वही जानते हैं। इक्केवान भी जानता है। किन्तु जिस पर उस इक्के और उस पर सवार व्यक्तियों का बोझ है, जिसकी गति पर उस बोझ को खींचने और दौड़ने का भार है, उस अश्व को भी क्या यह पता है कि उसे कहाँ जाना है ?

शायद नहीं।"

पङ्कज इतना कहकर चुप हो गया। उसके साथ मृणाल खड़ी है, एक खेत की मेंड़ पर। प्रातःकाल दोनों अकेले अपने-अपने बँगलों से घूमने के लिए निकले थे। रास्ते में अकस्मात् दोनों की भेंट हो गई। टहलते हुए दोनों सड़क से थोड़ा हटकर एक खेत की ओर जा पड़े। वहीं, एक स्थान पर खड़े होकर, इक्के की ओर सङ्केत करते हुए, पङ्कज ने ऊपर लिखित बात कही।

मृणाल पङ्कज की ओर देखने लगी, कुछ बोली नहीं। बात के इस क्रम में पङ्कज से वह कुछ और सुनना चाहती थी।

पङ्कज खेत की मेंड़ पर धीरे-धीरे चलने लगा। पैरों के नीचे तक फैली उसकी बारीक चुन्नट पड़ी धोती कभी-कभी काँटेदार बेरी की झाड़ी से उलझ जाती थी। कठिनाई से वह अपनी धोती को उन काँटों से मुक्त कर पाता था। किन्तु प्रायः प्रत्येक बार धोती के काँटों से उलझ जाने पर वह मुस्कराने लगता था। और मृणाल ऐसे अवसर पर उसकी मुस्कान देखकर अतिशय विस्मित हो उठती थी। उसकी बिसकिट-कलर की बनारसी साड़ी पर कलियों और पुष्पों पर मड़राते हुए भ्रमरों की सुन्दर छपाई की

हुई थी। किन्तु उसकी वह भूमि से लगती साड़ी बेरी की झाड़ के काँटों से कभी उलझ न पाती थी। अपने और पङ्कज के इस अन्तर पर लक्ष्य करती हुई मृणाल एक बार मुस्कराने लगी। किन्तु पङ्कज ने उसे देख नहीं पाया। वह आगे-आगे चल रहा था। मौन, शान्त, स्थिर।

खेत के उस पार नहर की लाइन देख पड़ती है। पङ्कज उसी ओर जा रहा था। मृणाल सोचने लगी—जैसे नवीन, वैसे ही विचित्र।

चलते-चलते पङ्कज नहर की लाइन पर आकर खड़ा हो गया। मृणाल ज़रा पीछे रह गई थी। उसी ओर घूमकर वह खड़ा हुआ था। वह अपनी पहाड़ी छड़ी को कभी-कभी उठाकर उसमें बेले के फूलों की नक़्क़ाशी देखने लगता था।

तेज़ी से चलकर पङ्कज के पास जा पहुँचने के प्रयत्न में मृणाल का श्वास किञ्चित तीव्र जो हो उठा, तो उसके वक्ष-प्रान्त में एक ज्वार-भाटा सा उठने लगा। परन्तु पङ्कज ने उसकी ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा—इतना छोटा-सा पथ पार करने में भी तुम इस तरह हाँफ उठती हो मृणाल!

"बात यह है कि तेज़ चलने का अभ्यास मैंने नहीं किया है"—मृणाल लजाती, मन्द हास से दन्तयुग्म झलकाती हुई बोली—"और इस तरह आगे चलकर, इस प्रकार ऊँचाई पर जल्दी-जल्दी बढ़ते जाने का तो········।"

बात अधूरी रह गई। लेकिन वह अधूरी बात ही पङ्कज के

दल पर, हृदय के कूल पर, फर-फर उड़ती चिड़िया के पङ्खों के पवन-सी आई और चली गई।

दोनों फिर टहलने लगे। पङ्कज तीव्र गति से चल रहा था। मृणाल पिछड़ जाती थी। पङ्कज को ठहरना पड़ जाता था। मृणाल इस पर मुस्करा देती थी! पङ्कज उसकी मुस्कराहट को अपनी आँखों में भर लेना चाहता था और मृणाल उसकी अध्ययनशील दृष्टि को।

रास्ते में मिले कुछ मज़दूर। सिरों पर उनके झल्लियों में भरे तरबूज़ों का बोझ था। कई अधेड़ पुरुषों के बीच एक स्त्री भी देख पड़ी। फटा चिथड़ा उसके वक्ष की मर्यादा रक्षित कर न पाता था। पैरों में पड़े फूल के कड़े पैर की गाँठ से लग-लगकर रक्त के बूँद छितराने लगते थे। किन्तु उस मज़दूरनी को इसकी चिन्ता नहीं थी। उत्साह के साथ वह जल्दी से चली जा रही थी। यद्यपि बोझ के भार से उसके गले की नसें तनी हुई थीं और फूल रही थीं।

पङ्कज आगे चल रहा था। मृणाल थोड़ा पिछड़ गई थी। कि इसी समय वह तरबूज़वाली उसके निकट से जाने लगी। मृणाल बोली—ज़रा ठहरना, तरबूज़वाली।

तरबूज़वाली रुक गई। उसके साथ के आदमी आगे निकल गये थे। उसने उनको बुलाते हुए कहा—अरे ओ कल्ली के चच्चा, क़ल्ली के चच्चा, ज़रा ठहरो। देखो, ये रानीजू तरबूज़ ख़रीदना चाहती हैं।

साथ के आदमी भी लौट पड़े। सब के सिरों पर झल्ली थी। अब प्रश्न हुआ, उस बोझ को उनके सिरों पर से उतराये कौन?

इधर-उधर ऐसा कोई व्यक्ति देख नहीं पड़ा। तब तक पङ्कज बाबू सामने आते देख पड़े।

मृणाल बोली—जल्दी आइये। उसने देखा, सभी झल्लीवाले पसीने से तर हो गये हैं। और तरबूज़वाली का मुख तो बोझ के दबाव से लाल पड़ गया है। पसीने के बूँदें उसके मुख पर मोती से छितराये हुये हैं और बह-बहकर टपक रहे हैं। तब पङ्कज के आने तक का धैर्य्य न रखकर मृणाल स्वतः उठी और दोनों हाथ फैला-कर बोली—लाओ, मैं ही उतरा दूँ।

साथ के आदमियों ने कहा—तुम रहने दो रानी साहब। बाबू जी आ रहे हैं।

लेकिन मृणाल ने तब तक तरबूज़वाली की झल्ली में हाथ लगा दिया। पङ्कज भी झट से दौड़कर पास आ गया था। उसने एक ओर सहारा लगाते हुए कहा—तुम हट जाओ मृणाल। अब तुम्हारे सहारे की आवश्यकता नहीं है। लेकिन मृणाल हटी नहीं। झल्ली के बोझ का यथेष्ट भार उसने अपने बाहु पर वहन किया।

झल्ली एक ओर रख दी गई। तरबूज़वाली ने अब दूसरे आदमी की झल्ली उतराई। फिर उस आदमी ने तीसरे की। इसी प्रकार सब झल्लियाँ उतार दी गईं।

मृणाल क्रम-क्रम से सभी झल्लियों की ओर कुतूहल और विस्मय से देख रही थी। तरबूज़वाली अपना पसीना पोंछ रही थी। शेष आदमी सिर पर रक्खे कपड़े की गोल तह खोलकर, फैलाकर, उसके अंचल से अपने ऊपर हवा कर रहे थे।

पङ्कज ने पूछा—इस तरबूज़ का क्या लोगे ?

संकेत एक आदमी की झल्ली में रक्खे एक बड़े तरबूज़ की ओर था।

मृणाल ने प्रश्न के साथ पहले पङ्कज की ओर देखा, फिर उस आदमी की ओर। परन्तु उसकी दृष्टि उस युवती की ओर जा अटकी। उसे प्रतीत हुआ, निराशा और उसकी ज्वाला उसके मुख पर आकर विकृत हास से संश्लिष्ट हो उठी।

लेकिन मृणाल कुछ बोली नहीं।

उस आदमी ने कहा—जो जी में आये, दे दीजिये बाबू साहब।

पङ्कज बोला—इस तरह नहीं। साफ़-साफ़ बतलाओ, कै पैसे दूँ ?

वह आदमी अपने दूसरे साथी की ओर देखकर बोला—इस तरबूज़ का दाम तो बाबू जी आठ आना है; लेकिन आपको छः आने में मिलेगा।

पङ्कज पैसे निकालकर उसे देने लगा।

अब मृणाल ने उस युवती से पूछा—तुम्हारी इस झल्ली के सारे तरबूज़ कितने के होंगे ?

युवती एक दूसरे आदमी की ओर देखने लगी। मृणाल ने इसे भी लक्ष्य किया।

वह आदमी बोला—इस झल्ली के तरबूज़ों का दाम तो दो रुपया है; लेकिन आपको मैं डेढ़ रुपये में ही दे दूँगा।

पङ्कज ने मृणाल की ओर देखा। उसे आश्चर्य्य हो रहा था—इतने तरबूज़ों का वह करेगी क्या ?

मृणाल बोली—मेरा बँगला यहाँ से थोड़े फ़ासले पर है। वह, उधर। वहीं ले चलना होगा। फिर उसने उस युवती की ओर देखा, आनन्द के आलोक से जिसकी आँखें चमकने लगी थीं। उल्लास का एक कोलाहल उसकी मुद्रा पर लहक रहा था।

सब झल्लियाँ उठाई गईं। पङ्कज ने अन्तिम बार एक आदमी को सहारा दिया। सभी आदमी आगे हो गये। पीछे वह युवती। उसके पीछे मृणाल और फिर पङ्कज।

पङ्कज कुछ कहना चाहता था, लेकिन मौन था। किन्तु मृणाल कुछ कहना नहीं चाहती थी। बार-बार उसके मन में यही प्रश्न उठता था—इस स्त्री के सिर पर इतना बोझ लाद देना इन आदमियों को स्वीकार कैसे हुआ !

थोड़ी दूर चलने पर पङ्कज बोल उठा—इतने तरबूज़ों का क्या होगा मृणाल ?

मृणाल बोली—"कुछ तो खाये जायँगे। जो बचेंगे, उन्हें पड़ोसियों के यहाँ भेज दूँगी।" बात कहते हुए उसके स्वर में थोड़ी भग्नता आ गई थी। कुछ तीखापन भी था, किन्तु संयम के साथ। वास्तव में मृणाल इस अवसर पर बहुत सम्हल गई थी। नहीं तो, पहली बार तो उसके मन में आया था, वह कह दे—शरबत नालियों में बहा दूँगी और गूदा कूड़े में फिकवा दूँगी।

पङ्कज ने अनुभव किया, मृणाल का स्वर बदला हुआ है। उसने

कहना चाहा—तब तो मुझे ख़रीदने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु वह कुछ बोला नहीं।

चलते-चलते एक जगह पङ्कज की ढीली धोती बेरी के काँटों में फँस ही गई। यद्यपि उसने सावधानी से छुड़ाने की चेष्टा बहुत की।

निकट आकर मृणाल बोली—देखूँ।

धोती में खोंप आ गई थी। मृणाल उसे देखती हुई, पङ्कज की ओर एकटक देखकर रह गई। अब की बार उसके अधर कुछ विक-सित हो उठे। किन्तु क्षण भर बाद वह फिर गम्भीर हो गई।

बँगले पर पहुँचकर मृणाल ने युवती की झल्ली के दाम चुका दिये।

दूसरे दिन पङ्कज को सड़क पर टहलती हुई मृणाल कहीं देख नहीं पड़ी। घूमकर जब वह लौटा, तो मृणाल के बँगले की ओर मुड़ गया। सब से पहले उसे माली मिला। पङ्कज ने उससे पूछा—बीबी रानी आज घूमने नहीं गईं।

"हाँ बाबू जी, नहीं गईं। उनकी तबियत आज ठीक नहीं है।"

"तबियत ठीक नहीं है! अच्छा!!"—अतिशय आश्चर्य से पङ्कज ने कह दिया। उसी समय उसके पास से एक कार सर्र से निकल गई। उसमें डाक्टर घोषाल थे।

पङ्कज बँगले के अन्दर बढ़ गया। यहाँ वह प्रायः कम आया है जब मृणाल के पास सूचना भेजी गई—पङ्कज बाबू आये हैं, तो पहले तो उसने कहा—कह दो, तबियत ठीक नहीं है; फिर आवें। परन्तु जब दासी चलने लगी, तो बोली—अच्छा, बुला लो।

पङ्कज आकर सोफ़े पर बैठ गया। बोला—आख़िर तुम बीमार पड़ ही गईं।

मृणाल कुछ बोली नहीं। रात-भर उसे नींद नहीं आई थी। तरबूज़वाली युवती की ग्रीवा की फूली नसें, रक्त झलझलाती हुई उसकी अरुण मुद्रा पर बहते पसीने के बूँद, यौवन का नवल उभार और फटी चिथड़ा हो रही उसकी मैली धोती, पैरों की गाँठियों में कड़ों से चोट खाये रक्त के छींटे—काले पड़े हुए!—सब उसके सामने बराबर आते रहे।

पङ्कज बोला—खाने-पीने में कुछ गड़बड़ी हुई होगी। ज्वर तो अब होगा नहीं। कि है कुछ? क्या बतलाया था डाक्टर ने?

किन्तु कुछ सस्मित मृणाल बोली—धोती आज फटी कि नहीं?

पङ्कज की बात का उत्तर उसने नहीं दिया। उल्टे उन्हीं से प्रश्न कर बैठी।

"आज उधर गया नहीं था। कौन जाय खेतों की मेंड़ से होकर। हरियाली तो मुझे देखनी नहीं थी। वर्षा का मोह अब मन में जम नहीं पाता। ईख या धान की हरियाली, मेरी दृष्टि में, कोई उल्लास नहीं उत्पन्न करती। क्योंकि इस चित्र का पृष्ठभाग कृषकों के रक्त-शोषण में गर्भित है। स्पष्ट जान पड़ता है, यह हरियाली धान के रूप में बदल गई है और खलिहान से सीधे उठकर वहाँ चली जा रही है, जहाँ ज़मीन के अन्दर उसे वर्षों गड़ा रहना है। खत्तियों में उसे डाल दिया जायगा और उसका मोल-भाव उतरता-चढ़ता रहेगा।"

पङ्कज की बात मृणाल ध्यान से सुनती रही। कल उसने तरबूज़ की पूरी भल्ली ख़रीद डाली थी; और तब इस पङ्कज ने जो एक चलता हुआ प्रश्न कर दिया था, आज मृणाल ने समझा, उसका कोई महत्व नहीं था। जब कि इसी पङ्कज के लिए वह सोच रही थी कि कह दिया जाय, तबियत ख़राब है—फिर आयें। वह भीतर-ही-भीतर कटकर रह गई। जैसे मछली जलाशय से निकालकर बाहर की सुखी भूमि पर छोड़ दी जाय और छट-पटाने लगे।

पङ्कज उठकर चलने लगा। 'नमस्ते' हो गई थी। पङ्कज लान के बाहर आकर मुख्य फाटक को पार कर ही रहा था कि फिर दासी दौड़ी-दौड़ी आ पहुँची। बोली—बीबी रानी आपको फिर याद कर रही हैं। किन्तु जब पङ्कज चलने लगा, यह कहकर कि, अच्छा, शाम को फिर देख जाऊँगा, तो दासी ने सामने आकर हाथ जोड़कर विनय की। बोली—ऐसा न करें जिससे मुझे उनकी डाँट सुननी पड़े। खड़े-खड़े चले चलें। फिर चाहे तुरन्त लौट आयें।

पङ्कज विवश हो गया।

मृणाल इस बात को जानती है कि पङ्कज कैसा व्यक्ति है, तो भी उसे धोखा हो जाता है। पहले भ्रम में पड़कर उस पर प्रतिक्रिया होती है। वह समझने लगती है—पङ्कज उसके उड़ते स्वप्नों के पङ्खों पर बैठता नहीं, उसकी फुनगी पर बैठकर झूमता नहीं। वह चिन्तक है। यद्यपि देश की चिन्ता उसे न होकर होती है मानव

की और जीवन की। किन्तु जब उसे इसका निश्चय हो जाता है तब थोड़े ही विलम्ब से वह जैसे पहाड़ से गिर जाती है। चकनाचूर हो जाता है उसका गर्व। धराशायी हो जाती है उसकी विवेकशीलता। मानस-तरङ्गें शान्त हो जाती है। सरिता का जल जैसे सूख जाता है।

मृणाल के जीवन का एक दुःख और है। पीड़ित मानवात्मा के प्रति सहानुभूति वह रखना चाहती है, किन्तु उसका जन्मजात संस्कार तो उसी वर्ग का है, जिसके प्रति वह घृणा रखती है। वह दास-दासियाँ नहीं चाहती, परिचर्य्या नहीं चाहती। महल उसे स्वीकार नहीं है। किन्तु ऐसा वह केवल सोच-भर सकती है। जन्म से विजड़ित सुविधाओं को त्यागकर उसे अपने आपको देखने का अवसर ही कहाँ मिलता है!

पङ्कज के चले जाने के बाद तकिये पर सिर रखकर वह छटपटाने लगी थी। किन्तु कुछ मिनटों के अन्तर से जब तक पङ्कज आये-आये, वह मूर्छित हो गई। दासियाँ इधर-से-उधर दौड़ने लगीं। घबराई-सी, अतिशय चिन्तित-सी राजमाता दौड़ी आई। पङ्कज को देखकर बोली—तुम इस घर से इतना दूर-दूर क्यों रहते हो भैया? तुमको निकट देखकर मेरी मृणाल कितना सुखी होती है! विवाह तुम लोग नहीं करना चाहते, न सही। किन्तु मनुष्यता का नाता भी तो निबाहना होता है! मेरी समझ में नहीं आता कि कोई व्यक्ति मेरी मृणाल को अपनी आत्मा के निकट देखने में क्यों संकोच कर सकता है!

वह मृणाल के सिर पर हाथ फेरती हुई कहने लगी—मेरी मृणाल कितनी भोली है! आघात वह सहन नहीं कर सकती! उसकी आँखें भर आईं, कण्ठ आर्द्र हो उठा ।

पङ्कज सोफ़े पर से उठकर खड़ा हो गया था । दासियाँ पङ्खा झल रही थीं। आँखों की पलकों और सिर पर गुलाब-जल छिड़का जा रहा था ।

पङ्कज बोला—मनुष्यता के जिस नाते को मैं मानता हूँ माँ, उसे तुम कहाँ मान पाती हो । आँखें खोलकर देखो इस मानवता को। कोटि-कोटि नर-नारी यहाँ भूखे-प्यासे,बे-इलाज और बे हिफ़ाज़त मरते हैं। ज़िन्दगी का सारा उल्लास यहाँ केवल पेट की ज्वाला शान्त करने में समाप्त होता है। मनुष्य का सारा जीवन, मांस, ख़ून और हड्डियाँ निःश्वास, आँसू और राख के रूप में परिणत होता रहता है। और तमाशा यह है कि हम अपनी आँखों से नित्य इसे देखते हुए भी कुछ सोचते, समझते और सीखते नहीं। हमारी आँखें फूट गई हैं—हम अन्धे हो गये हैं ! तुम्हें मालूम है माँ, तुम्हारे राज्य में सौ फ़ी-सदी किसानों के बच्चे दूध-घी नहीं पाते, अन्न नहीं उन्हें मुअस्सर। उनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं और साफ़ कपड़े पहनने को तो वे तरसते हैं! और तुम कह रही हो मनुष्यता का नाता तो निबाहना होता है!

राजमाता चुप रह गईं। वे कुछ उत्तर न दे सकीं।

बात कहकर पङ्कज मृणाल के निकट जा पहुँचा। राजमाता के सामने इस तरह बैठने का उसे यह पहला अवसर था। दासियाँ

उपचार में लीन थीं। पङ्कज बोला—आप लोग यदि मुझे थोड़ी-सी एकान्तता प्रदान कर सकें, तो मृणाल की मूर्च्छा अभी भङ्ग हो सकती है। मर्यादा और जीवन की रक्षा का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।

राजमाता और दासियों ने कक्ष ख़ाली कर दिया।

पङ्कज ने और भी निकट जाकर मृणाल के सिर से लेकर बाहु की कोहनी तक धीरे-धीरे हाथ फेरना प्रारम्भ कर दिया।

एक बार उसने कहा—उठो मृणाल, तुम्हारी आँखों का उन्मीलन कुछ देखना चाहता है।

क्षण-भर बाद मृणाल ने आँखें खोल दीं। किन्तु उसके पलक पुनः बन्द होने को ही थे कि उसने कहा—जीवन के मोहों को छोड़ कर एक बार मुझे देख सको, तो देखो मृणाल। तब तुम समझोगी, मैं दूर रहकर भी तुम्हारी इन छुई-मुई सी पलकों पर ही निवास करता हूँ।

पङ्कज का इतना कहना था कि मृणाल उठकर बैठ गई। बोली—क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ?

"हाँ मृणाल, तुमने स्वप्न देखना ही अब तक जाना है।"—पङ्कज ने कहा—"किन्तु अब तुम्हें जीवन को देखना पड़ेगा।"

सङ्केत पाकर तुरन्त राजमाता आ गईं; दासियाँ भी। पङ्कज ने कहा—अब मैं चलता हूँ।

और वह चला गया।

× × ×

पङ्कज का उस दिन से पता नहीं है। सुमेरपुर राज्य में जन-शासन के नव-निर्माण के लिए एक प्रजा-परिषद् बन रही है।

मृणाल नित्यप्रति नहर पर घूमने जाती है; किन्तु वह एकाकिनी है। विवाह उसे नहीं करना है। राजपथ से गुज़रती हुई; वह यदि कभी-कभी कोई इक्का आता हुआ देखती है, तो पङ्कज की उस दिन की बात को सोचती रह जाती है—"किन्तु जिस पर उस इक्के और उस पर सवार व्यक्तियों का बोझ है, जिसकी गति पर उसे खींचने और दौड़ने का भार है, उस अश्व को भी क्या यह पता है कि उसे कहाँ जाना है ?

शायद नहीं।"

स्पर्द्धा

रात कुछ अधिक गहरी हो गई है। अन्धकार ने जैसे स्थायी रूप धारण कर लिया हो। पीछे जो कुछ छोड़ आये हैं और आगे जो कुछ देख पड़ रहा है, वह सभी कुछ, आज की इन घड़ियों में काजल की भाँति काला होकर, एकदम से एकाकार हो उठा है। वायु की लहरों में गति का अभाव जान पड़ता है; कम्पन और वेग से शून्य हो गई है वह। स्वर-हीन हास और रुदन इस घनी कालिमा में आज कैसा आत्मीय जान पड़ता है, कैसी एक-रूपता है उसमें! सारा जगत् जैसे एक कालिमा मात्र है। इस कालिमा से परे मानो मानवात्मा का कोई अस्तित्व ही न हो। साथियों की बातचीत बन्द हो गई है। कन्धे बदलने में तत्परता दिखलाने

वाले सहयोगी जन नितान्त क्लान्त हो उठे हैं। बनवारी जूता पहनकर नहीं आया है। कंकड़-मिट्टी उसके पैरों के तलवों में जलन उत्पन्न करती हुई अब उन्हें उस सीमा तक आगे ले जा चुकी है, जब उनमें छाले तो फूट ही पड़े हैं; उन छालों का भी फूट जाना ही अवशेष रह गया है। लेकिन गंगा-घाट तो अभी दूर है—हाँ, काफ़ी दूर है।

"इधर कई दिन से इनसे भेंट नहीं हो पाई थी, निखिल।" बनवारी कहने लगा—"इतना ही ज़रा-सा ख्याल हो आता है। मालूम नहीं, क्या सोचते रहे हों! कल की बात कौन जानता है; नहीं तो अन्तिम समय मैं इनसे ज़रूर मिलता!"

इसी क्षण त्रिवेणी ने, बनवारी की बात के समाप्त होते ही कहा—मुझसे और तो कोई सेवा नहीं हो सकी। हाँ, एक दिन देखने ज़रूर चला गया था। कुछ रुपये भी दे आया था। यों-भी मुझे देने ही थे। कई वर्ष हुए, मैंने उनसे ले रक्खे थे। बीच में ऐसी सुविधा ही नहीं हुई कि दे सकता। उस दिन मुझे कुछ ऐसा सूझ ही गया, अन्यथा उनके जीतेजी ऋण से मुक्त न हो सकने का दुःख सदा के लिए सिर पर लदा ही रहता।

त्रिवेणी के उपर्युक्त कथन के समाप्त होते ही प्रतीत हुआ, मानो बनवारी का निःश्वास कानों के परदों पर ध्वनित हो उठा है। शायद वह कुछ कहता भी। किन्तु उसी समय एक ओर निकट के गाँव से कुत्तों के भूँकने का कर्कश स्वर सुनाई पड़ा, दूसरी ओर अर्थीवाहक दल का वह परम्परागत गुरु-गम्भीर

निर्दोष । फिर थोड़ी देर तक एक सन्नाटा-सा छाकर रह गया । अन्त में त्रिवेणी बोला—बस, अब श्मशाम थोड़ी ही दूर है बनवारी भाई ।

किन्तु बनवारी ने उसकी इस बात पर कुछ नहीं कहा ।

सड़क के दोनों ओर घने छाया-तरु आ गये थे । वायु भी थोड़ी-थोड़ी डोलने लगी थी । पीपल के पत्ते हिल-हिलकर क्या कह रहे थे, इसका कुछ स्पष्ट बोध नहीं हुआ, किन्तु अन्धकार की इस घनी कालिमा के स्पर्श से उनका मर्मर शब्द भी जैसे काला पड़ गया था··· ।

कँकरीली सड़क से हटकर अब हम लोग रेती पर चल रहे हैं । वृक्ष पीछे छूट गये हैं । अब दायें-बायें, सामने और पीछे ठण्डी-ठण्डी रेत है और खुला हुआ निरभ्र गगनाञ्चल । अन्धकार भी जान पड़ता है, गंगा के इस तट पर, इसी सैकत-शैया पर, सोने आता है ।

एकाएक बनवारी कहने लगा—"मरना ही था, तो यह दिन में मरता । जीवन-भर जो रात को निश्चिन्तता से सोने नहीं दिया उसका मुझे कोई रञ्ज नहीं, किन्तु आज मृत्यु के समय भी रात मरने बैठा ! रात को ही को ही विश्राम का यह लुटेरा चलता बना । उस्ताद, चलते-चलाते भी तुम अपनी···हरकत से बाज़ नहीं आये !"

अर्थी दिखलाई पड़ने लगी थी । एक सज्जन हाथ में लिये हुए हरीकेन लालटेन ऊँची करके बोले—इधर से निकल आओ भाई

साहब ! हाँ, इधर से। आप लोग पीछे रह गये हैं, इसका कुछ पता ही न था मुझे।

बनवारी ने एक बार उस व्यक्ति की ओर देखा, फिर धीरे से फुसफुसाते हुए कहा—यह भी एक नम्बर का पाजी आदमी है, निखिल। है कि नहीं ? शान्ति का ऐसा एकान्त अवसर न होता, तो आज मैं इस साले के दाँत ही तोड़ डालता। बेशरम, कमीना कहीं का ! क्या हम लोग यहाँ प्रकाश का भरोसा करके आते हैं ?

त्रिवेणी कुछ कहना चाहता था, लेकिन मैंने उसका कन्धा दबाकर उसे कोई भी उत्तर देने के लिए मना कर दिया।

श्मशान अब हमारे सामने था। एक चिता पहले से ही धधक रही थी। जल क्या रही थी, संसार की ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखती हुई जैसे मुँह बनाकर अट्टहास कर उठती थी। उससे सम्बद्ध जन-मण्डली एक ओर बैठी थी। एक आदमी कुछ बातें भी कर रहा था। एक तरह की बदबू चारों ओर फूट रही थी। वायु के झकोरे के साथ वह कभी कभी अपनी ओर भी आ पड़ती थी। किन्तु बनवारी का उस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं था।

त्रिवेणी बोला—उधर चलें हम लोग भी बनवारी, जहाँ वे दूसरी मण्डली के लोग बैठे हुए हैं। इधर तो बड़ी दुर्गन्ध आ रही है।

"हूँ।" बनवारी ने धीरे से कहा ही था कि तब तक हरीकेन

लालटेन को नीचे गिराते हुए वे सज्जन फिर बोल उठे—उधर नहीं, इधर आ जाओ भाई साहब।

किन्तु बनवारी ने उसकी बात पर ध्यान न देते हुए कहा—उधर उनके पास ही चलना होगा निखिल। हम लोग भी उन्हें नहलायेंगे। आज के दिन मैं उनको नाराज़ नहीं होने देना चाहता!

"मानो नाराज़ होने को ही वे बैठे हैं!"—कहकर त्रिवेणी ने बनवारी की बात की महत्वहीनता को कुछ स्पष्ट कर दिया।

किन्तु बनवारी ने कुछ कहा नहीं। वह मेरी ओर देखने लगा। उस दृष्टि में मुझे ऐसा बोध हुआ, जैसे वह त्रिवेणी की बात पर एक उपहास की हँसी—एक उपेक्षा का विद्रूप हास्य—व्यक्त कर रहा है।

"हम लोगों ने अनेक बार एक साथ ख़ूब नहाया था, निखिल" बनवारी कहने लगा—कुएँ से डोल खींच-खींचकर पहले मैं ही उसे नहलाता था। इतना नहलाता था कि वह आपही जब दो-चार बार कह देता था—बस, अब बन्द करो भाई; अब और नहीं—तब कहीं मैं डोल खींचना बन्द करता था।"

बनवारी की इस बात को सुनकर मुझे भी त्रिवेणी की बात पर तुच्छता का भास होने लगा। और त्रिवेणी तो जैसे नितान्त लज्जित हो उठा।

शव को चार व्यक्तियों ने अपने हाथों पर ले लिया था। घुटनों तक गङ्गाजी में बैठकर वे लोग निवारण-बाबू की

को नहला रहे थे। बनवारी ने चार-छः अञ्जलियाँ उनकी देह पर छोड़ दीं। त्रिवेणी और मैंने भी दो-दो।

चिता तैयार हो गई थी। निवारण का शव जब उस पर रखा जाने लगा, तब बनवारी उसी समय अलग एकान्त की ओर बढ़ कर वहीं ठहर गया। हम लोग भी एक ओर खड़े हो गये। मुखाग्नि देने की तैयारी हो रही थी कि बनवारी ने ज़रा और आगे बढ़कर केवड़े की शीशी निवारण की देह पर उँड़ेल दी। सभी आत्मीयजन देखते रह गये।

अग्नि ने शव को अपने मुँह में भर लिया था। लपटें उड़ रही थी। रक्त, मांस और पानी सी-सीकर जल रहा था। चर्म जलकर झट से फफोले बनाता था। फफोले जलकर फूट पड़ते थे। और मांस अपने असली रूप में लहक उठता था। पहले उसकी आर्द्रता शान्त—चिरशान्त—होती थी। फिर वह भी शुष्क और शुष्कतम होकर अस्थियों के साथ जलता हुआ, लपटों में लिपट-लिपटकर नाच उठता था।

हम लोग आकर एक ओर अलग बैठ तो गये; पर बातचीत थोड़ी देर तक बन्द ही रही। बनवारी से रहा न गया। उसने कहा—कुछ हो; निवारण आदमी नगीना था। अर्थी ले जाते हुए, हम लोगों के साथ वह सदा आगे रहता था। जब कभी हँसता, तो उसका अट्टहास कितनी दूर तक दौड़ लगाता था!

त्रिवेणी बोला—अच्छा निखिल, एक बात पूछूँ, अगर बुरा न मानो?

मैंने कहा—कह डालो। बुरा-भला क्या मानना।

"दाह-कर्म तो ख़ैर इनके भाई ने कर दिया।"—त्रिवेणी बोला—"हालाँकि वे रहते अलग हैं। लेकिन उन देवीजी का अब क्या होगा? तुमको मालूम ही है, निवारण बाबू दूसरे दिन के लिए भी एक छदाम रख छोड़ना पसन्द न करते थे। फिर यह तीसरा विवाह उन्होंने अभी हाल ही में किया था। एक-दो बच्चे भी शायद हैं।"

"हाँ, यह एक समस्या है त्रिवेणी।"—मैंने कहा—"और इसे सुलझाना भी पड़ेगा ही।"

बनवारी हम लोगों की ओर देख रहा था। बोल उठा—इस वक्त वह अगर मुझे मिल जाय तो अब मैं उसे गले से लगा लूँ निखिल भाई। हालाँकि उसे मेरे सम्बन्ध में भ्रम हो गया था। मुझे नीचा दिखाने में उसने कोई भी कोर-कसर नहीं उठा रक्खी थी। तो भी अब मैं अपने अपराधों के लिए उससे क्षमा माँग लूँ। सब तरह से वह मेरा दुश्मन था—दिल से और जान से भी। लेकिन मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो अब मेरा पतन निश्चित है। निवारण मेरी हीनता, तुच्छता और अकर्मण्यता का निवारण था—उत्थान था वह मेरा। उसने मुझे एक नवीन जीवन दिया था। वह सदा मुझे स्फूर्ति देता रहता था। आज तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो निवारण जीवन पा गया है, और मैं—मैं जीवन से परे जा रहा हूँ! क्यों निखिल भाई, क्या कहते हो तुम?

"कुछ नहीं बनवारी भैये, मैं कुछ कह नहीं सकता! तुम समर्थ

हो, तुम्हारी बड़ी गरिमा है। निवारण चला गया है, चला जाय। वह वीरात्मा था। बहादुर उसकी आत्मा थी। उसी की संतुष्टि तुम्हारा कर्त्तव्य होना चाहिए।"—मैंने कहा। कहा क्या, अपने को ज़रा-सा सम्हाल लिया, मानो गिरने से बचा लिया हो!

अब त्रिवेणी बनवारी की ओर देख रहा था।

"अच्छा निखिल भाई"—बनवारी फिर कहने लगा—"एक बात मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ। बुरा न मानना, सङ्कोच भी न करना। जैसा भी तुम उचित समझना, कह डालना। तुम्हें मालूम है, वह जो मुक़दमा उसने मेरे ऊपर चलाया था, जालसाज़ीवाला। याद है न, जिसकी अपील करने पर अन्त में मैं बरी भी हो गया था।...हाँ-हाँ, बस वही, वही। हाँ, तो उसके सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है? क्या तुम्हारा भी यही विश्वास है कि वह रुक़्क़ा बनावटी था? क्या तुम भी यही मानते हो कि रुपये इन्होंने लिए नहीं थे?"

तब "छिः छिः! तुम भी इस समय ऐसी बातें करते हो बनवारी! तुम्हें यह शोभा देता है?"—मैंने कह दिया।

"शोभा क्यों नहीं देता है? क्यों यह अशोभन है? मैं सच्ची बात जानना चाहता हूँ। निवारण महायात्रा कर रहा है! उसका सब कुछ समाप्त हो रहा है! शरीर, मन, आत्मा, संस्कार, नाते-रिश्ते, कुटुम्ब, समाज और जगत्; क्या रहा है उसका? सभी कुछ तो अन्तरिक्ष में लीन हो गया है। इससे अधिक पवित्र अवसर फिर कब आयेगा? वह अपना बहीखाता बराबर कर गया है। उसकी विधि मिल गई है। वह आगे जा रहा है। मुझसे यह देखा नहीं

जाता, निखिल भाई ! मैंने जीवन-संग्राम में उसका सामना किया था। अब, उसके अन्त की इस काल-रात्रि, उसकी विदाई के इस पुण्य मुहूर्त में, क्यों न मैं भी अपनी विधि मिला लूँ ? बोलो ! बोलो न ? कहो। जो मन में आवे सो कहो। रुकते क्यों हो ? मैं कहता हूँ; तुम भी कहो। मैं पूछता हूँ—तुम उत्तर दो।

"मैं कुछ नहीं जानता। मैं इस सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकता। मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि ऐसे विवादग्रस्त विषय मर बोल सकूँ। तुम उसके आत्मीय रहे थे, पीछे से शत्रु भी हो गये थे; तो भी जान पड़ता है थे तुम उसके निकट ही। ऐसी दशा में इस विषय को तुम्हीं अच्छी तरह सोच-समझ सकते हो। हम लोग क्या कह सकते हैं ! क्यों त्रिवेणी, है न ऐसी ही बात ?" मैंने कहा, त्रिवेणी ने भी मेरा समर्थन किया। कहा—सब कुछ तुम्हीं पर निर्भर है बनवारी। हम लोग कह ही क्या सकते हैं ? हाँ, यही ज़रा-सा ख़याल हो आता है कि निवारण छोटे-छोटे दो बच्चे और युवती विधवा छोड़ मरा है। अगर उनके लिए कुछ........।

"हूँ"—बनवारी के मुँह से एक निःश्वास की तरह निकल गया।

दुर्गन्ध का झोंका अब भी कभी-कभी आ ही जाता है। हम और त्रिवेणी दोनों नाक में धोती का खूँट लगा लेते हैं। किन्तु बनवारी जैसे इस ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता। चिता की लपटें अब शान्त हो गई हैं। लकड़ी के कुन्दे धधक रहे हैं। पहले वाली चिता की शान्ति-क्रिया निष्पन्न करके उस दल के लोग चले जा रहे हैं। गङ्गा की रेती का कगारा कभी-कभी फट पड़ता है और

एकाएक अररर झम्म के गुरु-गम्भीर स्वर के साथ सारा-का-सारा श्मशान कम्पित हो उठता है। हरीकेन लालटेन ने बढ़ी हुई बत्ती के कारण, धुएँ से लिप-पुत कर अपने प्रकृत प्रकाश को भी क्षीण और क्षीणतम कर डाला है। चिता की अग्नि के आस-पास ही थोड़ा-सा लाल-लाल उजेला देख पड़ता है। चारों ओर खुला घना अन्धकार अपने काले मुख को खोलकर, काले केशों को फहराता हुआ, जैसे चिता की रही-सही लालिमा को भी खा जाना चाहता है। थोड़ी देर से सब लोग चुप हैं। कपाल-ध्वंस के लिए निवारण का अनुज अभी उठा था, वह भी अब बैठ गया है। घोर सन्नाटा छाया हुआ है।

त्रिवेणी ने इसी समय पूछ दिया—अब भी यह जो दुर्गन्ध कभी-कभी इधर आ जाती है, यह क्या बात है निखिल! निवारण का शव तो अब क़रीब-क़रीब जल चुका है! जान पड़ता है, और किसी स्थल से यह दुर्गन्ध आती है। क्यों बनवारी, तुमको कैसा जान पड़ता है? यह देखो, यह, फिर झोंका आ रहा है।

मुझको भी त्रिवेणी का अनुमान सच जान पड़ता है। इतनी अँधेरी रात में, इतने कम आदमियों के साथ, इस श्मशान पर, मैं पहले कभी नहीं आया। कभी-कभी शरीर भर में एक कँपकँपी दौड़ जाती है। रोंगटे खड़े हो जाते हैं। भय तो मुझे विशेष नहीं लगता है; किन्तु निश्चित रूप से मैं भी यह कह नहीं सकता कि समय स्थान और उसके कुटिल स्वरूप का आतंक मुझको स्पर्श नहीं कर रहा है। किन्तु मैं इस विषय में इस समय कुछ कहना नहीं चाहता।

आजकल प्लेग इधर ज़ोरों के साथ फैला हुआ है। सम्भव है, कोई शव उधर कहीं पड़ा हो। त्रिवेणी की बात पर मैंने कह दिया—होगा। कौन खोजने जाय, क्या बात है? तुमको डर लगता हो, तो इधर मेरे पास आ जाओ, या फिर चलो हम लोग भी उन सब के पास चलकर बैठें।

किन्तु त्रिवेणी मुझसे कम निडर नहीं है। उसने कह दिया—नहीं भाई, तुमने मुझे ग़लत समझा है। मैं केवल दुर्गन्ध की बात कह रहा था। पर तुम तो मुझे डरपोक समझ रहे हो! बनवारी भाई, तुम चुप क्यों हो गये?

"चुप तो नहीं हूँ" बनवारी बोला—"यद्यपि चुप हो ज़रूर जाना चाहता हूँ। कुछ पिछली बातें इस समय मुझे याद आ रही हैं। हम लोग उस समय साथ-साथ एक ही स्कूल में पढ़ते थे; एक साथ एक ही कमरे में, रहते थे। सरदी के दिन थे; शायद होली के आस पास की बात है, निवारण ने मुझे भाँग खिला दी थी। भाँग के साथ उसने, मुझसे छिपाकर, कुछ धतूरे के बीज भी छोड़ दिये थे। हम लोग तीन-चार दिन तक बेहोश रहे थे। गाँव से हम लोगों के पिता चाचा भी बुला लिये गये थे। उन लोगों को हमारे बचने की कोई आशा नहीं रह गई थी। चौथे दिन जब पहले-पहल निवारण की चेतना जगी, तो उसने जो पहला प्रश्न किया वह यह था कि बनवारी का क्या हुआ?

"बात यह थी कि उसने जान-बूझकर, आदर कर-करके मुझे कुछ अधिक भाँग पिला दी थी। उस समय तक मेरी स्थिति क़ाबू में

नहीं आ सकी थी। तो भी उससे झूठ-मूठ कह दिया गया कि तुम निश्चिन्त रहो, वह अच्छा हो रहा है। पर जब उसने मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तब टाल-मटोल में सारी परिस्थिति उसने अनुमान कर ली। मौक़ा पाकर ज़बरदस्ती भागकर वह मेरे निकट आ गया था! मेरी हालत देखकर वह फूट-फूटकर रोया था। उसने कहा था—अगर इनको कुछ हो गया, तो मैं आत्मघात कर लूँगा। मैं इन्हें अकेला न जाने दूँगा, किसी तरह नहीं। हम लोग एक साथ हँसे-खेले हैं, एक ही साथ मरेंगे भी। चाहे आगे-पीछे ही मरें! फिर उसी दिन शाम को जब मैं सचेत हुआ, तो हम लोगों ने मिलकर अपने क्लास-भर को मिठाई खिलाई थी। उस समय का दृश्य इन आँखों के सामने नाच रहा है। मिठाई का पहला कौर उसने मुझे खिलाकर कहा था—खा जाओ यार, एक दिन तो मरना है ही। मान लो कि अबकी बार धतूरा न सही, कुछ और सही!

"उसकी इस बात पर क्लास के अनेक साथी बिगड़ उठे थे। कई लोगों ने बहुत समझाने-बुझाने पर भी मिठाई नहीं खाई थी। उनका कहना था कि निवारण पर मेरा क़तई विश्वास नहीं रह गया है। और इसका परिणाम यह हुआ था कि उनके भाग की बची हुई मिठाइयाँ हम लोगों ने उन्हें दिखा-दिखाकर बराबर कई दिन तक खाईं। तब वे लोग और भी लज्जित हुए। इस तरह के हथकण्डे निवारण प्रायः दिखलाया करता था। अपने आतङ्क के लिए वह स्कूल भर में प्रसिद्ध था।......देखता हूँ, आज वही निवारण मुझे हराकर पीछे छोड़ गया है।"

बनवारी अपनी बात को पूरा कर ही पाया था कि सब लोग उठकर खड़े हो गये। हम लोग भी चिता के पास पहुँचकर गङ्गा-जी में खड़े होकर उस पर पार पानी उलीचने लगे। शान्त-कर्मी ने निवारण की देह के अवशिष्ट भाग पर, रस्सी के सहारे बालू-भरे घड़े का भार डालकर उसे गहरे जल के प्रवाह में छोड़ दिया।

आगे अन्य सब लोग चले जा रहे थे, केवल हमी लोग पीछे चल रहे थे। गङ्गा-घाट से अभी हम थोड़ा ही आगे बढ़ पाये होंगे कि बनवारी ठिठुककर खड़ा हो गया। अभी सवेरा नहीं हुआ था; थोड़ी कसर रह गई थी। अँधेरी त्रयोदशी के चन्द्रमा का क्षीण प्रकाश फैल रहा था। वायु सन्न-सन्न बह रही थी। गङ्गा-घाट की ओर घूमकर बनवारी बोल उठा—ज़रा ठहरना निखिल। ऐसा जान पड़ता है, मानो किसी ने मुझे बुलाया हो। ज़रा तुम भी सुनो। सम्भव है, मुझे भ्रम हो गया हो। लेकिन नहीं, मैंने स्पष्ट रूप से वह स्वर सुना है किसी ने कहा है—कहाँ लौटे जाते हो बनवारी?

मैंने कहा—कोई बात नहीं है। तुम भ्रम में पड़ गये हो! तुम्हारे भीतर का ही स्वर बाहर आकर साकार शब्द बन गया प्रतीत होता है। अन्यथा ऐसे समय यहाँ तुमको भला कोई क्यों बुलाने लगा!

"शायद यही बात हो"—बनवारी कहकर हम लोगों के साथ चलने लगा। चलने तो लगा वह, किन्तु उसके पैर डगमगा रहे थे। दो-चार पग ही वह आगे बढ़ पाया था कि वहीं

बैठ गया। बैठ क्या गया, एकदम से शिथिल-ध्वस्त होकर फैल गया। एक शब्द भी वह और आगे कह नहीं सका।

× × ×

आँखें खुली रह गई थीं। मुख पर किसी प्रकार की म्लान छाया नहीं थी। प्रसन्नता के मारे जैसे वह पागल हो रहा था।

अब अँधेरा छँट गया था। बाल-रवि की लालिमा सजग हो रही थी। शीतल पवन डोल रही थी। घर को लौटे जा रहे आगे बढ़े हुए लोग फिर लौटकर उसे घेरे खड़े थे। अन्त में जब उसके वस्त्र उतारे गये, तो कुरते के जेब में एक काग़ज़ पड़ा मिला। उसमें लिखा हुआ था—"वकील साहब, एक वसीयतनामा लिखवाना है। कल किसी समय आने की कृपा कीजिए। मेरे पास जो कुछ भी ज़मीन-जायदाद है, वह अब निवारण के बच्चों की है। मेरा कुछ ठीक नहीं है; मालूम नहीं कब कहाँ चल दूँ। आपका—

बनवारी"

और अभी थोड़ी देर पहले इसी बनवारी ने कहा था—वह अपना बहीखाता बराबर कर गया है। उसकी बिधि मिल गई है। वह आगे जा रहा है—मुझसे यह देखा नहीं जाता!

—:o:—

पीपल का पेड़

पीपल का पेड़ चुपचाप खड़ा है। कभी-कभी कोई टहनी पवन का झकोरा खाकर झूल उठती है; पत्तियाँ हिलने लगती हैं। वर्षा के जल से धुली हुई पत्तियाँ—हरी-हरी, कोमल। पेड़ तने के ऊपर दो भागों में बट गया है। दो भुजाएँ उसने फैला दी हैं। एक कुछ ऊपर उठी हुई है और निकट के मकान की छत पर फैल गई है। दूसरी नीचे-ही-नीचे फैलकर रह गई है। दो पक्षी बार-बार किसी-न-किसी टहनी पर आ-आकर बैठते, इधर-उधर देखते, गर्दन हिलाते और उड़ जाते हैं। किन्तु पीपल का पेड़ चुपचाप खड़ा है।

कई दिन से पानी बरस रहा है। कल सूर्य-भगवान का दर्शन

दुर्लभ हो गया। रिम-झिम रिम-झिम पानी बरसता ही रहा और उदय घर से निकल नहीं सका। कैप्स्टन-सिगरेट का एक टिन उसने ख़ाली कर दिया। कमरे में वह चुपचाप अकेला बैठा रहा। पुस्तकें उठाईं और रख दीं। कभी पलँग पर तकिए के सहारे लेटा और कभी यों ही बैठा रहा, घंटों। कभी उठा और टहलता रहा। कभी खिड़की के बाहर झाँककर चुपचाप खड़े पीपल के पेड़ को देखता रहा। अधजले सिगरेट के अवशिष्ट अंश कमरे भर में बिखर गये। दियासलाई की तीलियाँ भी कोनों में कालिमा लिए पड़ी रहीं। सेवक शाम को आकर कमरा साफ़ भी कर गया; पर उसके जाने के बाद ही, तुरन्त, उदय ने फिर सिगरेट सुलगाकर धूम्रपान किया और दियासलाई की काँड़ी और अधजले सिगरेट का अवशिष्ट भाग फ़र्श पर फेंक दिया। प्रातःकाल सेवक चाय की ट्रे रख गया था। उदय ने एक कप चाय पी ली थी। दोपहर को उदय से पूछे बिना, नित्य की भाँति सेवक विधिपूर्वक भोजन बनाकर, उसे थाली में सफ़ाई और सुरुचि के साथ सजाकर, ले आया था। उदय ने कुछ थोड़ा उसमें से खाया भी था। किन्तु थोड़ी देर बाद जब सेवक थाली उठाने आया तो एकाएक थाली की ओर देखकर स्तम्भित हो गया था! उदय की ओर उसने दो चार बार घूम-फिरकर—शायद छिपे तौर से—देखा भी था। बिना कुछ कहे या पूछे उसने आप-ही-आप सोच लिया था—हो न हो बाबूजी की तबियत आज कुछ गड़बड़ है।—चेहरा भी तो उदास है।

लेकिन शाम होते ही उदय मकान पर रह नहीं सका।

पानी यद्यपि बरस रहा था, फुहार गिर रहा था; तो भी वह रेन-कोट पहनकर और छाता लेकर मकान से निकल पड़ा। सड़क पर ख़ाली ताँगा जा रहा था। ताँगेवाले ने उदय को पैदल चलते देखा, तो कहा—बाबूजी ताँगा चाहिए।--उदय जैसे चौंक पड़ा। बोला—ऐं! ताँगा? नहीं, ज़रूरत नहीं!

ताँगेवाला आगे बढ़ने लगा। पर थोड़ा-सा ही वह आगे बढ़ा था कि उदय ने पुकारा—अच्छा, ठहरो।

ताँगा खड़ा होगया। उदय दस क़दम आगे बढ़कर उस पर बैठ गया।

उदय ने अब सिगरेट का पैकेट निकाला, दियासलाई से होंठों से लगी सिगरेट सुलगाई, एक कश लिया और कहा—गंगाजी की ओर।

ताँगेवाले ने घोड़े की पीठ पर पड़ी मोटी बागडोर अपनी ओर ज़रा-सी खींच ली और घोड़ा पड़ पड़ करता हुआ दौड़ने लगा।

— २ —

रात ज़्यादा आगे बढ़ आई। ताँगेवाले ने देखा, ऊलन-मिल की ऊँची घड़ी ने साढ़े दस बजा दिये। तब उसने पूछा, बाबूजी, मैं आपको कहाँ छोड़ दूँ? अब मैं घोड़ा खोलूँगा। नया जानवर है फिर दिन-भर का हारा, थका और भीगा।

"तुमको पहले ही कह देना चाहिए था" उदय ने कहा—

क्यों बेकार में उसे ज़्यादा तकलीफ़ दी ?

फिर उसने अपना जेब देखा। रेन-कोट के भीतर सिल्क-कोट का जेब पहले ऊपर से ही टटोला—ओ: क्या वह पर्स मकान पर ही भूल आया ! विश्वास नहीं हुआ, ऊपरी कोट का बटन खोलकर भीतर बायाँ हाथ डाला, तो पर्स मिल गया। सवा रुपया उसने निकालकर ताँगेवाले के हाथ पर रख दिया। फिर वह ताँगे से उतर पड़ा। ताँगा चल दिया।

पानी बरसना बन्द नहीं हुआ है। फुहार अब भी पड़ रहा है। लाइट-पोस्ट के बल्बस सड़क पर जो रोशनी बिखेर रहे हैं, पानी के, उथले साधारण गड्ढों पर, वह खूब चमक रही है। और उसी झलकती मुस्कराती रोशनी पर बिलसती हैं पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें। उदय ने देखा तो वह मुग्ध हो गया और एक ओर खड़ा होकर उन्हें देखने लगा। किन्तु उसी समय जब उसे पता चला, बूँदे उसके सिर पर भी पड़ रही हैं तो ख्याल आगया—अरे ! वह छाता तो ताँगे पर ही भूल गया। तब वह जिधर से आया था, उसी ओर चल दिया। यह सोचते हुए कि शायद ताँगा मिल ही जाय। और सचमुच ताँगेवाला परेड के पास एक दूकान पर खड़ा घोड़े के लिए दाना ले रहा था। दूकान बन्द हो रही थी, दूकानदार से प्रार्थना करके बड़ी मुश्किल से उसने खुलवा पाई थी।

उदय बोला—मेरा छाता तो रही गया। ज़रा-सा मुस्कराया भी वह, इस समय।

"हाँ बाबू,"—ताँगेवाले ने कहा—मैंने अभी देखा, जब मैं दाना लेने के लिए इधर आया। (दाना लेकर) मैं फौरन, अभी उसी ओर आपको देखता हुआ जाता। ज़रूर जाता। ख़ैर, आप ख़ुद ही आ गये। लेकिन आपको ऐसी बारिश में भी छाता लेने का ख्याल नहीं रहता!—यह लीजिए छाता।

उदय ने ताँगेवाले के इस विस्मय पर केवल मुस्करा-भर दिया, कुछ कहा नहीं। वह मेस्टनरोड की ओर चल दिया।

एक-आध इक्के-ताँगे अब भी आ-जा रहे हैं। दोनों ओर मकानों और बँगलों से बिजली का प्रकाश झाँक रहा है। ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड्स और रेडियो का संगीत और वार्ता-विनोद भी कभी-कभी कानों के परदों पर मुद्रित होने आ जाता है। उधर उदय का पैर कभी-कभी पानी में पड़कर एक छप्प-सा शब्द कर उठता है। उसकी उजली धोती पर मटमैले छींटे पड़ रहे हैं। ...ओः जान पड़ता है, यह पिल्ला है और मरा पड़ा है। कितना दुर्बल है! लेकिन उसकी देह पर के भीगे केश—मुलायम और चमकीले, भूरे और काले! उदय के शरीर-भर में एक कपकपी दौड़ गई। खड़ा-खड़ा वह उसी को देखता रहा।

पानी की बूँदें अब बन्द हो गई हैं। छाता समेट लिया उसने। जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाई और एक कश लिया। उसी समय निकट के बँगले से पहले कोई रमणी-कण्ठ उसे सुनाई पड़ा, फिर एक अट्टहास। और तत्काल उसकी दृष्टि उस पिल्ले के मुख की ओर जा पड़ी। दाँत उसके भी

खुले हुए थे। सफ़ेद-सफ़ेद चमक रहे थे और खिल रहे थे। एक प्रश्न उसके भीतर उठ खड़ा हुआ—यह अट्टहास मूक और दारुण, बधिर और नग्न, आख़िर हुआ किस पर ? किस चीज़ पर ? क्यों हुआ ?? क्यों-ओं-ओं ???

— ३ —

घूमता हुआ उदय सड़क से अपने मकान की ओर जा रहा था। किन्तु सड़क से मुड़कर वह एक गली में जा पहुँचा। गली बड़ी भली है। इसी समय गुनजान होती है। वहीं उदय एक लाइट-पोस्ट से लगकर खड़ा हो गया। उसे बोध हुआ, उसका सिर दर्द करने लगा है। —ओः आज उसने सायंकाल चाय नहीं पी थी। सामने आ जाने पर भी नहीं पी थी। इच्छा ही नहीं हुई थी। पीता कैसे ? खाना भी उसने कुछ नहीं खाया, अब तक नहीं। ताँगे पर बैठा हुआ ऐसी झमाझम वर्षा और रात में वह घूमता ही रहा। अलबत्ता गंगाजी के घाट पर, पंडे के तख़्त पर, वह एक-डेढ़ घंटे बैठा होगा—तो सिर का यह दर्द केवल इसी कारण है। हाँ, यही बात है।

उदय एक ओर चल दिया। चलते-चलते वह एक छज्जे के नीचे आ खड़ा हुआ। उसे ख़याल हो आया, कितनी बार वह यहाँ आ-आकर लौट गया है, कितनी बार !

इसी क्षण ऊपर से आवाज़ आई—आइए, खड़े क्यों हैं ?

एक कृत्रिम मधुर स्वर, प्रगल्भ और विषाक्त। उसने सोचा, वह यहाँ खड़ा ही क्यों हो गया, इधर आ ही क्यों गया ?

लेकिन जब आ ही गया, तो उसका सोच और विचार क्यों ?
—डर किसका और विराम कैसा ?

वह ज़ीने पर चढ़ता चला गया। उसके पैर आज दृढ़ थे, आज उनमें किसी प्रकार की शिथिलता नहीं थी। कमरे में आजाने पर उसने सुना—

"आइए, इधर निकल आइए—यहाँ, यहाँ।"

उदय ने रेन-कोट उतारकर एक खूँटी पर टाँग दिया। फिर वह मसनद के सहारे गद्दे पर बैठ गया। पहले कमरे में लगी तसवीरें देखीं, फिर लालटेन पर दृष्टि जा पड़ी। उसी समय कानों में कुछ मीठे शब्द जा पड़े—कहिए, आपकी क्या ख़ातिर करूँ ?

उदय ने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। वह बराबर अन्य चीज़ों को देखता रहा। मोतीलाल-बनारसीदास की ज्वेलरी की दूकान का कलेंडर है। उसमें एक प्रपात का दृश्य है। पानी काफ़ी ऊँचाई से गिरता है। गिरने में वेग है, विराम नहीं है – यहाँ तक कि सोच-विचार की भी क़तई गुंजाइश नहीं है।

—"यह कैसा विचित्र जन्तु है, जब से आया है चुपचाप कमरे की चीज़ों और तसवीरों को ही देख रहा है। जैसे ये चीज़ें इसने कहीं देखी न हों। और मैंने जो बात पूछी, उसका कोई उत्तर नहीं दिया।" पोदीना सोच रही है।

—"लेकिन उसके सिर में दर्द जो है।" उदय मसनद के सहारे देह फैलाकर लेट रहा। दायाँ हाथ उसके सिर पर जा लगा। वह बोला—सिर में दर्द हो रहा है।

पोदीना खिल-खिलकर हँसने लगी। बोली—तो आप सिर का दर्द रफ़ा करने के लिए यहाँ तशरीफ़ लाये हैं!

तो भी उदय को हँसी नहीं आई। वह गंभीर ही बना रहा। एक निःश्वास लिया, थोड़ी देर ठहरा और फिर बोला—ज़ोर का दर्द है पोदीना। उसका हाथ मस्तक को दबा रहा था।

पहली बार आनेवाला यह व्यक्ति उसके लिए इतना प्रिय होगा, उसने कभी सोचा न था। पोदीना निकट आ गई। दूसरी कोई बात वह सोच ही न सकी। लेकिन पहले उठकर उसने प्रवेशद्वार बन्द कर दिया।

"क्या चीज़ लगाऊँ सिर में?" पोदीना बोली—मेरे यहाँ तो ऐसी कोई चीज़ है नहीं, जिसे लगाने से आपके सिर का दर्द रफ़ा हो सके। डॉक्टर.........की दूकान पास ही है। कहें तो उन्हीं के यहाँ से कोई दवा मँगा लूँ लेकिन इस समय......।"

उदय पहले चुप रहा। देखता रहा पोदीना के उज्ज्वल मुख को, उसकी गोरी मांसल खुली बाहुओं को, कानों में पड़े झूमरों को और मोती से झलकते उसके अग्रिम दोनों दाँतों को। फिर बोला—तुम तो काशीपुर की रहनेवाली हो।

पोदीना नवल विस्मय और उद्वेग से अभिभूत हो गई। उसकी हँसती हुई आँखें अब अवनत हो गईं। वह कोई उत्तर न दे सकी।

उदय बोला—ख़ैर, मेरे सिर का दर्द थोड़ी ही देर का है। खाना मैंने अभी तक नहीं खाया है। कोट में पड़ा पर्स निकालकर रुपया ले लो। अपने लिए भी मँगवा लेना।

पोदीना उठी तो उसका दिल धड़क रहा था।

— ४ —

रात और भी ज़्यादा घनी हो गई। पानी बरसना बन्द हो गया है और ठंडी हवा बहने लगी है। गली में अब किसी के आने-जाने का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। हाँ, पहरेदार अलबत्ता यदा-कदा ज़ोर से खाँस देता है। पास ही रहती नरगिस को खाँसी ज़्यादा आती है। लेकिन वह एक खाँसी में ही डूबी होती तो भी ग़नीमत थी। वह तो वास्तव में मौत की मरीज़ है। खाँसी के साथ कभी-कभी ख़ून भी गिरता है। मुँह देखो तो उर्वशी लगती है, लेकिन हाथ की कलाई बाँस की आधी खपच्ची के मानिन्द है। नख श्वेत पड़ गये हैं। बदन-भर से रक्त की लालिमा जैसे तिरोहित हो गई है।

करवटें बदलती हुई पोदीना की दृष्टि के सामने यह नरगिस आज क्यों आ रही है, कौन जाने। उदय को गये हुए देर हुई। खाना खाकर वह फ़ौरन चला गया था। चलते समय उसने पर्स साफ़ कर दी थी। पोदीना कुछ नहीं ले रही थी। पर उसी समय आ पहुँची उसकी बुआ। उसने ज़बरदस्ती (दस-दस के) तीनों नोट ले लिये।

पड़ोस के कमरे में टँगी वाल-क्लॉक ने अभी दो बजाए हैं। पोदीना के कमरे के बग़ल में उसकी वही बुआ सो रही है, ख़र्राटे लेती हुई। उनका लड़का दूसरी ओर सो रहा है। पोदीना अपने इस कमरे में अकेली पड़ी हुई है। लालटेन का प्रकाश क्षीण हो रहा है। तेल समाप्त हो रहा है उसका।

फिर पोदीना को ख़याल हो आया नरगिस का। एक दिन था जब वह लालटेन ही नहीं, बल्कि पेट्रोमैक्स की तरह जलती हुई उजली थी, प्रकाशवती। पर आजकल उसका भी तेल...!

"क्या नाम बताया था—उदयशंकर! उफ़। बड़े बाबू के लड़के—मेरे ? ? ?—तो मैं और नरगिस! और लालटेन का तेल? और सिर का दर्द?"

पोदीना ने अनुभव किया, वास्तव में उसका सिर फटा जा रहा है।—ओः कितनी गरमी है? खिड़की न खोल ली जाय?—तब खिड़की उसने खोल ली। पुरवैया सन-सन करती हुई आने लगी।—हाँ, अब ठीक है। नींद आई नहीं कि सिर का दर्द गया नहीं।

लेकिन—"सिर में दर्द हो रहा है। ज़ोर का दर्द है पोदीना!" तो इसका मतलब यह है कि इन्होंने पूरा पता ले रक्खा था—शहर गली, मकान और यहाँ तक कि मेरा नाम तक। क्योंकि मैं तो इसके यहाँ कभी गई नहीं। ये ही अलबत्ता नलिनी के ब्याह में और उषा के गौने में........!

टप्-टप्-टप्!

और मैं मुँहजली कह बैठी—"तो आप सिर का दर्द रफ़ा करने के लिए...... !"

क़सम खिला दी और कहा—नहीं, तुमको मेरे साथ खाना होगा।

उस समय कितनी ऊमस मालूम पड़ी थी! मैंने अपनी बाडिस उतार डाली थी! एक मात्र यही सारी मेरे बदन पर थी।—

(निःश्वास) क्या मैं नरगिस नहीं बन सकती ? कुत्ते भी तो इस शरीर से नफ़रत करेंगे !

तकिए पर मस्तक रखकर औंधी हो रही पोदीना। कवर उसका भीग गया।—"आज भी मेरे लिए तुम वही हो पोदीना—कमलेश बाबू की लड़की—मेरे किशोर भैया की पत्नी। तुम्हारा कुछ भी नहीं बदला। ये थोड़े से दिन समझ लो प्रमाद में बीते, एक प्रकार की बेहोशी में। पगली कहीं की। जीवन रोने के लिए नहीं बना। आओ, मेरे साथ बैठकर थोड़ा-सा खा लो। हाँ पोदीना, बस आ जाओ।"

टप्-टप्-टप् !

— ५ —

सवेरे जब आठ बजे सेवक उदय के लिए चाय की ट्रे ले आया तो उसने देखा, बाबूजी की आँखें लाल हैं। पलँग पर तकियों के सहारे बैठे हुए वे सिगार पी रहे हैं। वापस जाने से पूर्व वह थोड़ी देर खड़ा रहा, यह सोचकर कि सम्भव है, खाने के लिए और भी कोई चीज़ मँगवायें, पर उसका यह सोचना व्यर्थ गया; क्योंकि उसे खड़ा देखकर उन्होंने कह दिया—बस, और कुछ नहीं चाहिए। पर सेवक जब जाने लगा, तो बोले—ग्रामोफ़ोन इधर दे जाना।

सेवक ग्रामोफ़ोन और उसके रिकार्ड्स लाकर रख गया।

चाय का पहला प्याला अभी समाप्त नहीं हुआ और एक ही रिकार्ड तीन बार बज चुका—

कोई प्रीति की रीति बता दे नई।
कर-करके जतन मैं तो हार गई॥

पर ग्रामोफोन अभी बज ही रहा था कि सेवक ने आकर बतलाया, गाँव से कई असामी आए हैं। बड़े बाबू ने आपको बुलाया है। कालीशंकर महाराज कहते हैं—कोई ज़रूरी काम है।

नौकर कहकर चला गया। उदय ने जवाब में कुछ नहीं कहा। हाँ, ग्रामोफ़ोन ज़रूर उसने बजाना बन्द कर दिया। फिर कमरे में इधर-से-उधर टहलने लगा। एक बार खिड़की से झाँककर उसने देखा, हवा खूब झकोरे ले-लेकर मस्ती के साथ बह रही है और पीपल का पेड़ मय अपनी डालियों-टहनियों और पत्तियों के झूम रहा है और गा रहा है। एक स्वर निकल रहा है उससे।

इसी समय कालीशंकर महराज ने कमरे में प्रवेश करते हुए नमस्कार किया और कहा—बड़े बाबू ने आपको बुलावा है और कहा है—ज़रूरी काम है।

उदय इस समय इस तरह की कोई बात सुनना नहीं चाहता था। फिर अभी-अभी सेवक ने उसे इसकी सूचना दे ही दी थी। अतएव उसने कह दिया—कह देना तबियत ठीक नहीं है। आना नहीं हो सकता।

थोड़ी देर में जब सेवक चाय की ट्रे उठाने आया, तो उदय ने कह दिया—ये लोग धर्मशाले में ठहराए जायँगे। यहाँ नहीं।

सेवक हक्का-बक्का रह गया। वह समझ नहीं सका, उदय की इस आज्ञा का अर्थ क्या है।—क्यों इन असामियों को आज इस घर में

ठहरने की मनाही हो रही है !

आज आसमान साफ़ है। सड़कें सूख गई हैं। बाज़ार का काम अन्य दिनों की अपेक्षा आज कुछ अधिक बढ़ा हुआ देख पड़ता है। समय पर खाना खाकर उदय बैङ्क गया और पाँच सौ रुपये निकाल लाया।

कई दिन तक वह रात-रात-भर ग़ायब रहा, लेकिन किसी को कुछ पता नहीं चला कि वह कहाँ रहता है।

— ६ —

—"बहुत दिनों में आये उदय ! कैसे भूल पड़े ?"

—'हाँ, आजकल लोगों को भूल जाने का मैंने ठेका ले रखा है। लेकिन मुश्किल यह है कि ठेका चल नहीं रहा है ! सभी इष्ट-मित्र, सखा और कुटुम्बीजन मुझे धोखा दे रहे हैं। अपने चारों ओर मैं केवल वंचना-ही-वंचना देख रहा हूँ।"

उत्तर सुनकर किशोरीलाल स्तम्भित हो उठा। बोला—कितने दिनों में आये और फिर आते ही मुझे जलाने लगे !

—"बदन पर हाथ धरकर देखो तो पता चले, कौन जल रहा है।"

किशोरीलाल ने देखा तो स्तम्भित हो उठा। बोला—ओः तुमको तो ज्वर है। अच्छा भाई, चले आये, यह तुमने बहुत अच्छा किया। अब आराम करो। ओः कितने वर्षों के बाद तुमसे मिलने का अवसर मिला !

उदय के लिए पलँग बिछवा दिया गया। वह उस पर लेट रहा। पास ही बैठ गया किशोरी। बोला—तो तुम ऐसे ज्वर में घर से

चले ही क्यों ? तबियत सुधर जाने पर चलना चाहिए था।

उत्तर में उदय कुछ बोला नहीं, केवल किशोरी के मुँह की ओर टकटकी लगाये देखता रहा। कुछ आँसू उसकी आँखों में झलकने लगे।

किशोरीलाल उठकर डॉक्टर को बुला लाया।

डॉक्टर को सामने देखकर उदय उठ बैठा। बोला—डाक्टर साहब, आप मेरी दवा मत कीजिये। मुझे मर जाने दीजिये। किशोरी भैया के यहाँ मैं मरने के लिए ही आया हूँ।

डॉक्टर स्तम्भित होकर किशोरीलाल की ओर देखता हुआ उदय के विवर्ण मुख को देखता रह गया।

किशोरीलाल ने उत्तर दिया—आप अपना काम कीजिए डॉक्टर साहब, इनकी बातों में न आइये।

डाक्टर ने टेंपरेचर लिया, ज़बान और आँखें देखीं, हार्ट इक्ज़ामिन किया, और नुसख़ा लिख दिया। उसको विदा कर देने पर जब किशोरीलाल पुनः उदय के पास जा बैठा, तो दवा पीने के पहले उदय बोला—आपको मेरे साथ चलना होगा। अभी।

"कहाँ ?"

"उस पार, जहाँ स्वर्ग और नरक एक ही घाट पानी पीते हैं।"

"तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है उदय।" किशोरी कहने लगा—"जब से आये हो, इसी तरह ऊट-पटाँग बक रहे हो। दवा पी लो और चुपचाप लेटे रहो। तबियत अच्छी होने पर जहाँ कहोगे, वहाँ चला चलूँगा।"

"तो तुम मेरे साथ चलने का वादा कर रहे हो। अच्छी बात है। इस शर्त पर मैं दवा पिये लेता हूँ।"

फिर दवा पीने के पाँच मिनट बाद उदय की आँखें झपक गईं।

— ७ —

"बड़े दुःख की बात है उदय, ऐसी स्थिति में तुम अकेले यहाँ चल दिये थे। ख़ैर, अब कोई चिन्ता की बात नहीं रही है। यद्यपि सावधानी की आवश्यकता अब भी बहुत है। किन्तु अब तुम घर जाने योग्य हो गये हो। डॉक्टर साहब कह रहे थे, स्थायी रूप से यहीं रहना हो सकेगा, तभी बिलकुल नीरोग हो सकेगे; अन्यथा नहीं। बोलो, क्या कहते हो ? याद रहे, घर जाकर फिर यहीं चला आना होगा।"

"मगर तुम तो साथ चलोगे न ? तुम्हारी भाभी भी साथ आना चाहेंगी !"

"अच्छी बात है चलो।"

"मगर मेरे घर पर सख़्ती के साथ परदा प्रथा का पालन होता है। तुम्हारी भाभी तुमसे बात न करे, तो तुम बुरा न मानना।"

"पर यदि वे तुम्हारी बजाय मुझे पसन्द करें, तो तुम्हें कोई एतराज़ न होना चाहिए।" किशोरी ने मुस्कराते हुए कह दिया।

"लिखापढ़ी हो जानी चाहिए।" उदय बोल उठा।

"मंज़ूर है, लेकिन पीछे से मुकर न जाना। मैं फिर तुम्हारी एक न मानूँगा। मित्रता और भाई-चारा ताक़ में रख दूँगा। और अगर तुम ने मेरा सामना किया, तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा ! समझे !!"

"समझा। लेकिन अगर कभी तुम्हारी दृष्टि पर मुझे शक भी हो गया, तो तुम्हें बहुत अपमानित होकर घर से निकलना पड़ेगा। फिर मैं यह न देखूँगा कि तुम मेरे किशोरी भैया हो और मुझसे बड़े हो और तुम्हारी आज्ञा का पालन और आज्ञा के अनुसार आचरण करना मेरा कर्तव्य है।"

"मंज़ूर है।"

"तो हाथ मिलाओ और सूर्य-भगवान् और अग्नि को साक्षी मानकर कहो कि जो प्रतिज्ञाएँ यहाँ की हैं, उन्हें मैं ख़ूब सोच-समझकर स्वीकार करता हूँ।'

दोनों ने हाथ मिलाये और प्रतिज्ञाएँ कीं।

— ८ —

"तो अब तुम कब जा रहे हो किशोरी भैया ?"

"मैं ? मैं सोच रहा हूँ कि यही—इस सप्ताह के अन्त होते-होते चला जाऊँ। ···क्यों ? आख़िर इस सवाल का मतलब ?"

मैंने ऐसे ही पूछ लिया—अपनी जानकारी के लिए। अशिष्टता के लिए क्षमा करना।

"हूँ।···और मेरे साथ चलने का वादा ?···"

"वह वादा ! हाँ, उसे मैं भूला नहीं हूँ। पर मैंने जो अपनी स्थिति पर ध्यान दिया, तो मुझे इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा कि मेरा वहाँ जाना हो न सकेगा।"

"तो यह मर्ज़ फिर उभड़ेगा।"

"लाचारी है।"

"अच्छा, तुमने चलते समय रास्ते में, यह भी तो वादा किया था, कि जब तुम चलने लगोगे, तो भाभी से तुम्हारी भेंट करवा दूँगा।"

"हाँ, मैं इस वादे को भूला नहीं हूँ। लेकिन मैं देखता हूँ तुम भले घर में ठहरने योग्य अब रह नहीं गये। समाज को मर्यादाओं के प्रति तुम्हारी अब वह आस्था नहीं है, जिसका विश्वास रखकर मैंने तुम्हें यहाँ अपने साथ ठहरने दिया था। तुम्हारी आँखों में रूप की लिप्सा और आत्मा में कलुष आ गया है। और ....।

"बस, और आगे मैं कुछ सुनना नहीं चाहता उदय! मैं जाता हूँ। आज से सदा के लिए विदा।"

किशोरीलाल के नेत्रों से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। होंठ फड़कने लगे और भृकुटियाँ अस्थिर हो उठीं।

किन्तु उदय ने कह दिया—मैं जानता था, एक-न-एक दिन मुझे तुमसे ये शब्द सुनने ही पड़ेंगे। ख़ैर, तुम अपने वचन का पालन न कर सके, न सही। पर मैं अपने वचन का निर्वाह करने के लिए तैयार हूँ।

और इतना कहकर उदय कमरे से बाहर छज्जे पर आकर खड़ा हो गया। बोला—अरे, ज़रा कपड़े बदलकर तैयार हो जाओ। किशोरी भैया को भेजने स्टेशन पर चलना है।

एक गाड़ी आकर द्वार पर खड़ी हो गई। घर से चलते समय बाहरी कमरे में किशोरीलाल को उदय ने ज़रा रोक लिया। उस समय एक-एक मिनट किशोरीलाल के लिए कल्प के समान बीतने लगा।

क्षण भर बाद—

"इनको प्रणाम करो। इनके चरणों पर सिर रख दो और कहो—तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। सदा मैंने तुम्हारी ही पूजा की है। ज्ञान से और अज्ञान से भी सदा मैंने तुम्हारे ही इन पावन चरणों पर आत्म समर्पण करके जीवन-मुक्ति पाई है ! तुम मेरी साधना हो, शक्ति हो। तुम्हें छोड़कर अब मैं और कहाँ जाऊँ।

सचमुच किशोरीलाल के चरण आँसुओं से तर हो गये ! और किशोरीलाल उस शैवलिनी-सी नारी को पहली ही दृष्टि में देखकर पहले स्तम्भित और फिर अश्रु-गद्गद् हो उठा। एकाएक उसके मुँह से निकल गया—ओः पोशीना, तुम हो ! लेकिन मैं यह सब देख क्या रहा हूँ। तुम तो कुछ और कहते थे उदय ! क्या वे सब प्रतिज्ञाएँ—।

किशोरीलाल खड़ा न रह सका। तख़्त पर मसनद के सहारे बैठ गया। उसका सिर मसनद के ऊपर आ गया।

उत्फुल्ल मन और वाणी से उदय ने कहा—उस काल्पनिक अपराध के लिए मुझे क्षमा करो किशोरीभैया !

× × ×

उदय आज फिर कई दिन बाद तिखण्डे पर खिड़की खोलकर बैठा हुआ उस पार देख रहा है। देख रहा है—कभी-कभी कोई टहनी, पवन का झकोरा खाकर झूल उठती है, तो पत्तियाँ हिलने लगती हैं। वर्षा के जल से धुली हुई पत्तियाँ—हरी-हरी, कोमल। किन्तु पीपल का पेड़ तो चुपचाप खड़ा है।

————

अभिशाप

उन्हें 'भाभी' कहकर मैं कभी सम्बोधित नहीं कर सका। विश्वम्भर चाहता था कि मैं 'उनसे' भाभी कहता। किन्तु मैं इसमें सदा असमर्थ रहा। एक बार तो उसने उनके सामने ही यह प्रस्ताव कर दिया था। तब वे खिलखिलाकर हँस पड़ी थीं; फिर गम्भीर होकर उन्होंने कहा था—"हाँ हाँ, अच्छा तो है। कहा करो न मुझे भाभी।"

किन्तु मैं फिर भी असमर्थ ही रहा। क्यों? सो आज तक मैं किसी से कह नहीं सका। किन्तु आज जब मेरे अपने ही बन्धु, नितान्त निकट के साथी, कह उठे हैं—"तू पापी है, सत्य! तेरे मन का कलुष आज तक नहीं गया!" तब सोचता हूँ, अपना सारा सुख-दुःख आज कह ही डालूँ।

एक बात और भी है। अपने जीवन के समस्त लौकिक बन्धनों से मैं छुट्टी पा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि किसी के लिए मैं अपना रह गया हूँ। बहुतेरे सम्बन्धों के प्रति, अज्ञात और अनपेक्षित रूप से, जब मैं बराबर अविश्वसनीय होता गया, तब विवश होकर अवशिष्ट को भी मैंने आप ही खो दिया है। किसी प्रकार चित्त को शान्ति तो मिले! आये दिन कोई-न-कोई ऐसी समस्या सामने उपस्थित हो ही जाती है कि उसके मूक किन्तु दारुण आघात के इतिहास के प्रति सोचता रह जाता हूँ—'अरे, यह अब तक पड़ा ही रह गया!"

विश्वम्भर मेरे बचपन का साथी है। अवस्था में वह मुझसे केवल तीन वर्ष बड़ा है। आज तक उससे कुछ भी छिपा नहीं रहा है। इधर महीनों उससे भेंट नहीं होती। और 'भाभी' के यहाँ तो वर्षों में पहुँचना होता है। इसका एक कारण यह भी है कि मैं उस नगर को त्यागकर इलाहाबाद चला आया हूँ। पिछली बार जब-जब उन 'भाभी' का दर्शन करने गया, तो एक अश्रुविगलित तरल हँसी हँसकर उन्होंने कह दिया—"आज पश्चिम में कैसे उदय हो पड़े!" यद्यपि मैं उनके इस व्यङ्गय का उत्तर नहीं दे पाया; किन्तु घुमड़-घुमड़ कर मेरे मन में यही आया है—चुप रह सत्य, तेरी मूकता ही इसका उत्तर है—मूकता ही।

इधर कुछ दिनों से विश्वम्भर को भी मेरे प्रति कुछ सन्देह हो गया है। वह जब कभी राह-घाट मिलता भी है, मुझे घर ले चलने का प्रयत्न नहीं करता। सच पूछिए तो मुझे उसके इस व्यवहार

के प्रति प्रसन्न ही होना चाहिए। ऐसा ही मैं चाहता भी रहा हूँ। किन्तु आज प्रतीत होता है, मानो वह सब कुछ नहीं था। निरा दम्भ था वह—मिथ्या अहंकार। नहीं तो विश्वम्भर के इस परिवर्तन के प्रति इस तरह मेरे विरक्त होने की आवश्यकता ही क्या है! आज इतने वर्षों के बाद, मैं ठीक तरह से समझ पाया हूँ कि अब तक सचमुच मैं भ्रम में रहा हूँ। न-केवल अपने आपको, वरन् अपने बाल-बन्धु विश्वम्भर और उसकी कमनीय कान्ता को भी मैंने भ्रम में रखा है। ऊपर से मैं यही पोज़ करता आया हूँ कि मैं किसी अभाव में नहीं हूँ, मेरे भीतर कहीं कुछ नहीं है। मैं किसी का कोई नहीं हूँ। किन्तु उस भाभी ने भेंट होने के क्षण, एक ही दृष्टि-क्षेप में, मेरे इस अहंकार को जैसे अपने पद-प्रहार से चूर-चूर कर डाला है। और मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहने लगी है—"तू पाखण्डी है, पापी है! आज भी तेरा अन्तःकरण स्वच्छ नहीं हुआ है। संकोच त्यागकर तू उसे भाभी नहीं कहता है—क्यों नहीं कहता रे, छलिया!"

किन्तु सच कहूँ तो ये सारे आरोप मेरे निकट आ-आकर लौट ही गये हैं; कभी मेरा स्पर्श नहीं कर सके।

बात यह है कि विश्वम्भर तो मेरा भाई हो सकता है; यद्यपि 'हो सकने' की इसमें कोई बात नहीं है। भाई वह है ही। किन्तु उसकी वह अंगना कभी मेरी भाभी नहीं हो सकती, यह निश्चित है। आज बहुत जी कड़ा करके मैं इस कठोर सत्य को पा सका हूँ। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। न यह कोई ऐसी

पहेली ही है, जिसे हल किये बिना किसी प्रकार की बेचैनी हो। आँखें खोलकर देखने से समाज में इस प्रकार के नाते सहज ही मिल सकते हैं।

[२]

आज से बीस वर्ष पहले का मेरा सर्वथा उच्छृङ्खल जीवन है। बाधाओं से हीन और स्वच्छन्द। प्रातःकाल होते ही चुपचाप घर से निकल पड़ता हूँ। पिछली शाम को अपनी मण्डली-द्वारा निश्चित कार्यक्रम के अनुसार आज कैलाश बाबू के मकान के सूने चबूतरे पर बैठकर, कोई पत्र-पत्रिका सामने रखकर, अपने मन की कोई कविता गा-गाकर पढ़नी है। साथी लोग, दो-दो तीन-तीन मकानों के अन्तर से, इधर-उधर लगे हुए हैं। चबूतरे से लगी हुई इस गली से, अभी थोड़ी देर में, 'डाली' निकलेगी। 'डाली' गोपी हलवाई की लड़की है और गर्ल्स-स्कूल में पढ़ने जाती है। ज्योंही वह सामने आयी कि बस तुरन्त उसकी ओर देखकर ज़ोर से खाँस देना है, जिससे और लोग भी जान लें कि डाली आ रही है। फिर उसके आ जाने पर क्रम-क्रम से उन्हें भी तो उसी तरह खाँसना है। आज सब्ज़ीमंडी के मोड़ पर जामुन बेचने वाली बुढ़िया से मोल-भाव करने में झगड़ भी पड़ना है! उसके आत्माभिमान को ज़रा-सा छू देने पर कितना मज़ा आता है! ऐसी पर्तदार, तहाई हुई गालियाँ और कहाँ सुनने को मिल सकती हैं! केदार के घर एक नयी कहारिन रखी गई है। नाम तो उसका है चमेली; किन्तु है वह ऐसी मोटी और मनचली कि एकदम

मिश्री की डली है। आज राह चलते हुए, उस सूनी गली में, उससे कह देना है कि 'मेरा और तुम्हारा कितना अच्छा जोड़ है! हनूमान जी के मेले में कुश्ती लड़ोगी? और शाम की अपनी गोष्ठी में इस घटना की रिपोर्ट देनी है और परीक्षा में पास होने के नम्बर लेने हैं—डिवीज़न पाना है।

अपने इसी जीवन की एक घटना है।

रविवार था उस दिन। सबेरे घर से निकलकर जो आगे बढ़ा तो देखा—केसरिया द्वार की बेंच पर बैठी जलेबी खा रही है। मुझ पर दृष्टि डालते ही जलेबी का एक टुकड़ा उसने मेरी ओर कर दिया।

मुझे कुछ कुतूहल हुआ। लेकिन मैं कुछ बोला नहीं, उसे अपलक देखता रह गया।

वह उसे झट से चट कर गयी।

मुझे उसका यह भोला मनोविनोद इतना प्यारा, इतना मृदुल लगा कि मैंने प्रस्ताव कर दिया, कल मेरे घर जलेबी खाने आना, अच्छा! बोलो, आओगी कि नहीं?'

और अभिमानिनी केसरिया बोली—'मैं क्यों आऊँ? तुम्हीं मेरे यहाँ आ जाना।'

"नहीं, तुम्हें मेरे यहाँ आना पड़ेगा, केसर!"

वह कुछ बोल न सकी।

आतङ्क जमाकर तब मैंने कहा—"मैं पूछता हूँ, तुम आओगी कि नहीं?"

उसी निर्भीकता से उसने उत्तर दिया—"नहीं आऊँगी कह तो दिया एक बार—और कितनी बार कहूँ ?"

धमकी के भाव से मेरे मुँह से निकल गया—अच्छी बात है। किन्तु क्षण-भर में मैं नितान्त प्रतिहत हो उठा। थोड़ी दूर आगे बढ़ जाने पर मैंने जो घूमकर एक बार उसकी ओर देखा, तो देखता क्या हूँ, वह अब भी मेरी ओर देख रही है।

मैं घर की ओर लौट पड़ा, ऐसा भाव दिखलाकर, मानो कोई अत्यन्त आवश्यक बात मुझे याद आ गई है। मैंने तय कर लिया था कि उसकी ओर मुझे दृष्टि तक नहीं डालनी है। किन्तु मैं अपने इस निश्चय पर अटल न रह सका। अन्त में मेरी दृष्टि उधर पड़ ही गई।

अनायास आँखों से आँखें मिल जाने पर वह मुसकाने लगी।

लेकिन मैंने तो तय कर लिया था कि मैं उससे बोलूँगा नहीं! मैं नहीं बोला। किन्तु फिर घर से लौटकर जो आया, तो देखा—वह द्वार पर नहीं है।

दूसरे दिन।

आँख खुलते ही याद आगई—केसर ने अपने घर बुलाया था।

किन्तु फिर वही झगड़ा उठ खड़ा हुआ। मैं उसके घर जलेबी खाने जाऊँ—मैं ?

मैं चुपचाप चारपायी पर लेटा रहा।

बड़े भइया आये और बोले—"उठेगा नहीं सत्य ? देख तो, कितना दिन चढ़ आया!"

वे चले गये।

अम्मा आयीं। बोलीं—"अरे, उठ रे सत्य! आज तुझे पढ़ने नहीं जाना है, क्या?"

किन्तु मैं तकिया में मुँह छिपाये लेटा रहा। किसी से कुछ कह न सका।

इसी समय केसर आ गयी।

मैं प्रसन्नता से पागल हो उठा।

"अम्माँ, केसर आयी है। उसे कुछ खिलाना चाहिए न? लाओ, कुछ पैसे दो।" मेरे कहने के साथ ही केसर अम्माँ के पास आ खड़ी हुई। बोली—"चाची, मेरे घर कितने दिन से नहीं आयी हो, कुछ ख़याल है?"

"छुट्टी नहीं मिली, केसर। अच्छा, अब किसी तरह वक्त निकालकर आऊँगी। इधर चटाई पर निकल आ री!...ले सत्य, ये पैसे!"

मैं गरम-गरम जलेबी और समोसे ले आया।

किन्तु घर आने पर देखा—केसर नहीं है।

अम्माँ किसी काम से अन्दर चली गयी थीं।

मैंने हतप्रभ होकर पूछा—"अम्माँ, केसर नहीं देख पड़ती!"

"यहीं तो थी। जायगी कहाँ?"

दोने एक ओर रखकर मैं उसे इधर-उधर खोजने लगा।

सचमुच, वह भीतर एक कोने में छिपी खड़ी थी। मुझे हैरान देख खिलखिलाकर हँसी पड़ी।

फिर दोनों ने एक दूसरे को ख़ूब जलेबियाँ खिलायीं। हर बार केसर कहती—ऊँहुँ, अब नहीं। पर फिर मेरा आग्रह वह टाल न सकती।

[३]

दीपावली की संध्या थी। मैं अपने घर की दियाली जलाकर चल पड़ा, मुहल्ले की छटा देखने। द्वार पर आकर ऊपर दृष्टि डालते ही मैंने देखा, केसर तिखण्डे पर दियाली सजा रही है। दीपमालाओं से भरा थाल उसके हाथ में है। मैं चुपचाप उसके घर में घुसता ही चला गया। दालान, कमरा, सीढ़ी, फिर यह कमरा और सीढ़ी चढ़ते हुए मैं वहीं, उसी छत पर, उसके पास जा पहुँचा। थाल अब भी उसके हाथ में था। दीपावलियाँ हँस रही थीं।

अकस्मात् मुझे सामने देखकर केसर पहले तो अवाक् रह गई। किन्तु फिर स्वाभाविक हास से बोली—"देखो, मैंने दियाली कैसी सजायी है!"

"क्या कहना है, केसर! लेकिन···"

"लेकिन क्या?"

'मैं दियाली की सजावट देखने तो आया नहीं!" मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे कह दिया।

वह मुझे देखती रह गई। थाल अब भी उसके हाथ में था; दीपकों की लौ उसमें जगमग-जगमग कर रही थी। कुन्दन वर्ण के उस प्रकाश में केसर की अनोखी छवि देखकर मैंने अपने आपको

खो दिया। मैं अपने को भूल गया। मैं यह भी भूल गया कि आज के इस क्षण का माहात्म्य क्या है? मैं शुभ और अशुभ के ज्ञान से परे जा पहुँचा। उसके थाल की सभी दियालियों का, दो बार के फूँक से ही मैंने निर्वाण कर डाला। तब थाल उसके हाथ से छूट पड़ा। किन्तु मैंने उस ओर भी ध्यान नहीं दिया, वरन उसे भुजपाश में भरकर एक-दो-तीन—हाँ, तीन बार उसे चूम लिया। मालूम नहीं, और भी कितनी देर तक मैं उसे चूमता ही रहता, अगर वह बल-पूर्वक धक्का देकर, सर्वथा विलग करते हुए, कह न देती—"तू मरजा, मरजा—मरजा सत्य!"

× × ×

कई दिन तक मैं केसर से छिपता रहा। आत्मग्लानि से ऐसा भर गया था मैं। किन्तु एक दिन किवाड़ की ओट में खड़ी हुई वह जब मेरी ओर देखती हुई प्रतीत हुई, तब मैंने उसके निकट जाकर कहा—'मैं क्षमा चाहता हूँ, केसर!'

वह कुछ न बोलकर भीतर चली गई।

दिन बीतते गये। मैं उन दिनों ननिहाल में रहता था। कुछ दिनों बाद मुझे उस नगर को त्यागकर इलाहाबाद आ जाना पड़ा। युग बदला, उसके साथ-साथ जीवन भी बदलता चला गया। केसर अब पूर्ण युवती हो चुकी थी। मैं ननिहाल जाता तो कभी-कभी दर्शन हो जाता था। एक बार फिर मैंने उससे पूछा था—"तुमने मुझे क्षमा कर दिया कि नहीं केसर?"

नतमुखी होकर, अत्यन्त संयत मन से, उसने कहा था—"जीवन-भर क्षमा ही माँगते रहोगे!"

[४]

इधर अनेक वर्षों से विश्वम्भर का कोई हाल-चाल नहीं मिला था। यह भी पता नहीं था कि वह है कहाँ। सुना था, वह बड़ा आदमी बन गया है। पारिवारिक जीवन भी उसका यथेष्ट सफल है। कई बच्चों का वह पिता हो गया है। उसकी सर्वांगपूर्ण सफलता मेरे लिए कितनी सुखद है, कैसी शान्तिकर—कौन जानता है। उसके सौभाग्य-मंदिर की कल्पना करता हूँ, तो मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है।

आज विश्वम्भर को एक पत्र लिखने की इच्छा हो रही थी। चाहता था, उस पत्र-भर में भाभी की ही चर्चा करूँ।

—लिखूँ कि उनसे मेरा नमस्ते कहके पूछना कि अगर वे मुझे ताज़ी जलेबियाँ खिलाने को तैयार हों, तो घड़ी-दो-घड़ी के लिए मैं उनका दर्शन करने आ सकता हूँ।

—पूछूँ कि मैं जो उन्हें भाभी नहीं कह सका, इस कारण उन्होंने मुझे क्षमाकर दिया कि नहीं? मैं इसी तरह, जीवन-भर, उनसे बराबर क्षमा ही माँगता रहूँगा, यदि वे स्पष्टरूप से मुझे नहीं बताएँगी।

—कहूँ कि जिस अभिशाप से सत्य जीवन-भर उनसे क्षमा के सिवा और कुछ नहीं माँग सका, अनन्त दीपमालाओं की हेमवर्णा झलमली में, एक बार उसी अभिशाप को वह दोहराना चाहता है।

× × ×

किन्तु अभी-अभी, इसी क्षण, वे सपरिवार मेरे यहाँ आकर, अपने बालगोपाल से कह रही थीं—'ये तुम्हारे चाचा हैं। इन्हें नमस्कार करो!'

मैंने उनके सम्मान में, अपनी कुरसी से उठकर, कह दिया—'आओ।'

और वे उस शिशु को मुझे देकर मकान के भीतर चली गयी।

———

एकाकी

"बैठो वीणा, ज़रा देर और बैठ लो। कितने दिनों में आई हो और मालूम नहीं फिर कब आओ।" कहकर नीलाम्बर फिर अपने काम में लग गया। तूलिका उसकी चित्र के बैकग्राउण्ड पर चल रही थी। गहरे वर्णों पर वह फीके, पनीले रंग से भीगे, हलके स्पर्शाघात मारता और हलके फीके स्थल को यदि कुछ गाढ़ा करना होता, तो उस पर कलर-केस के निश्चित खाने में रक्खी रंग की टिकिया का कोना फैलाकर, उसका गाढ़ा रंग तूलिका की नोक पर लेकर, वर्णों के गहरे आघात मारता। उसका यह कार्य चलता जा रहा था और वीणा चुपचाप बैठी, चित्र, उसके भाव और नीलाम्बर की उसके

प्रति तन्मयता का अध्ययन कर रही थी । कितनी ही बार वह उठने को हुई, यह सोचकर कि बैठे देर हुई, अब चलना चाहिए। पर प्रत्येक बार नीलाम्बर यही कहकर उसे फिर बैठा लेता कि बैठो—अरे, थोड़ी ही देर और बैठ लो। किन्तु अबकी बार जब वीणा चलने लगी और नीलाम्बर ने चाहा कि वह फिर बैठ जाय, तो वह बैठी नहीं वरन् खड़ी-खड़ी घूमती हुई उस चित्रालय को देखती रही।

"देखो वीणा यह खूब घना वन है"—नीलाम्बर बोला—'लम्बे-लम्बे पेड़ हैं—छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं, पत्तियों की हरीतिमा से लदे हुए। किनारे पर नदी है, जिसका पानी बह गया है, सूख गया है। केवल गीली रेणुका अवशिष्ट है, पैरों के तलवों को धोकर-भिगोकर उन्हें शीतल कर देने मात्र में समर्थ। बोलो, ऐसी नदी के किनारे-किनारे एकाकी चलना तुम पसन्द करोगे !"

अचकचाकर वह बोली—एकाकी !

उत्तर के शब्द पर उसने विस्मयात्मक झटका दिया और ज़रा-सी मुसकराहट भी उसके अधरों पर फैल गई ।

नीलाम्बर बोला—क्यों, एकाकी चलने की बात सुनकर तुमको आश्चर्य्य होता है !

"क्यों न हो आश्चर्य्य", वीणा बोली—"एक दिन, माना कि सब लोग एकाकी हो जाते हैं।—यह भी ठीक है कि यह यात्रा किसी-किसी को प्रीतिकर भी शायद हो सकती है। किन्तु यह जीवन

का चिह्न नहीं—उसके अन्त का स्वरूप है।........झूठ कहती हूँ ?"

बात कहकर वीणा नीलाम्बर की ओर देखने लगी।

नीलाम्बर ने उसकी बात का सीधे तौर से उत्तर न देकर ज़रा घुमाकर कहा—परसों सबेरे मैं तुम्हारे बँगले के पास से निकला था। पंचोलियाजी से रुपये लेने थे। और बहुत तड़के पहुँचने पर ही उनसे भेंट होती है। साइकिल में पंचर हो गया था। भूल से, अँधेरे में बिना देखे, मैंने कई दिनों की पहनी हुई—धोबी के यहाँ जाने को तत्पर—कमीज़ पहन ली थी। रंग के धब्बे उस पर उभड़ रहे थे। अतएव जानबूझकर मैं तुम्हारे यहाँ नहीं गया था। किन्तु सदर फाटक को पार करते हुए, मालूम नहीं क्यों, एकबार मेरी दृष्टि भीतर चली ही गई।

उस समय मैंने देखा था—लान पर तुम अकेली टहल रही हो! केश तुम्हारे बिखरे हुए थे और हाथ में एक पुस्तक भी थी; यद्यपि तुम उसे पढ़ नहीं रही थीं।

अब की बार नीलाम्बर, इस बात के कहने के क्षण, तूलिका को दक्षिण कर में लिये हुए वीणा की ओर केवल देखता रहा। उसने लक्ष्य किया, उसकी बात समाप्त होते ही वीणा हँस पड़ी। खिलखिल करती हुई वह कहने लगी—यह दूसरी बात है।

अब चित्र पर पुनः तूलिका चलाता हुआ नीलाम्बर बोला—दूसरी बात हो तो जाने दो। लेकिन ज़रा सोच देखो, बात दूसरी होकर भी पहली ही बात की भाँति कदाचित् तुम्हारे मतलब की हो।

सन्ध्या होने को आ रही है। कमरे का प्रकाश क्षीण पड़ गया

है। तो भी नीलाम्बर अपने काम में लगा हुआ है। उसे ज्ञान नहीं है कि अब उसे उठना है, घूमना है और कुछ खाना-पीना भी है। यही सब सोचती हुई वीणा बोली—काम करते समय आप दैत्य बन जाते हैं। मैं अब जाती हूँ। आप तो घूमने चलेंगे नहीं! शाम होने आयी। "अरे, सचमुच शाम हो गई।" आश्चर्य से आँखें फैलाकर नीलाम्बर बोला—"और मुझे पता ही नहीं चला। अच्छा चलो, मैं भी थोड़ी देर तुम्हारे साथ टहल लूँ।"

जेब में हाथ डालकर उसने सिगरेट-केस निकाला, साथ में दियासलाई। फिर एक सिगरेट वीणा की ओर बढ़ा दी। पर दूसरे ही क्षण वह कहने लगा—ओः, तुम तो··· ।

उसे स्मरण हो आया, वीणा इस चीज़ से घृणा करती है।

दोनों सड़क पर आ गये थे। एक क़दम चले भी थे कि नीलाम्बर का ध्यान अपने पैंट पर चला गया। कई स्थलों पर उसमें रंगों के दाग़ पड़े हुए थे। तब वह बोला—ज़रा ठहर जायँ तो मैं अपना पैंट बदल लूँ।

वीणा भी साथ-ही-साथ लौट पड़ी। लेकिन भीतर नहीं गई। वह सड़क पर ही टहलती और द्वार तक आ-आकर ज़रा ठहरती और लौट जाती।

पैंट के साथ शर्ट भी बदलकर नीलाम्बर आते ही बोला—यहाँ भी तुम आख़िर खड़ी ही रहीं; सड़क पर अकेली! किन्तु तर्क के लिए कहोगी—यह बात दूसरी है।

वीणा बोली—तर्क चीज़ ही दूसरी है। कहने को तो तुम भी

केवल पैंट बदलने गये थे, लेकिन लौटे पूरा कायाकल्प करके।

नीलाम्बर वीणा के 'कायाकल्प' शब्द-प्रयोग पर मुग्ध होकर हँसने लगा। बोला—चलो, मेरे कायाकल्प ने तुमको प्रभावित तो किया।

"ख़ाक-पत्थर प्रभावित किया!"—वीणा चलती हुई बोली—"देर कितनी हो गई!—कुछ ठीक है!"

"अच्छा, माफ़ करो देर ज़रूर हो गई। लेकिन बोलो, इस समय चलोगी कहाँ?" नीलाम्बर ने कहा। उसका ध्यान वीणा के उत्तर पर अटका हुआ था।

किन्तु वीणा कहने लगी—मैं क्या जानूँ, कहाँ जाने का तुम्हारा मन है!

खूब ज़ोर से नीलाम्बर हँस पड़ा। बोला—यह तुमने ख़ूब कहा!

वीणा मुस्कराने लगी। बोली—तुम्हारी शरारत नहीं गई।

वीणा के मुँह से 'शरारत' शब्द सुनकर नीलाम्बर गम्भीर हो गया, कुछ बोला नहीं।

अब दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। दक्षिण ओर ज़ाकू पहाड़ खड़ा है। भीमकाय पत्थरों के कोनों पर, ज़रा-सी साँस पाकर उगे, पनपे और फैले हुए वृक्ष झूम रहे हैं। पवन डोल रहा है। शाखाएँ, टहनियाँ और पत्ते हिल रहे हैं। हिल क्या रहे हैं, कुछ कह रहे हैं। मर-मर शब्द उनसे निकल रहा है। सड़क आगे-आगे ऊँची होती हुई घूमती गई है। बाईं ओर नीचे गहरे खड्डों में जो छोटे-छोटे

बँगले हैं, बिजली की बत्तियों का प्रकाश उनमें जगमगा रहा है। कभी-कभी उस व्यस्त राजपथ पर आङ्गल सभ्यता में डूबी रमणियाँ अपने स्वामियों अथवा मित्रों के साथ हँसती-अठिलाती हुई मिल जाती हैं। कोई हाथ में हाथ लिये हैं, कोई कन्धे से सटा हुआ चल रहा है। कोई सिगरेट का धुआँ उगल रहा है तो किसी की गति पर मादकता की छाप है। वार्तालाप का कोई टुकड़ा कभी-कभी नीलाम्बर के कानों के परदों पर भी आजाता है।

किसी ने कहा है—दिन तो किसी तरह कट जाता है; पर रात बड़ी मुश्किल से कटती है।

उसे उत्तर मिलता है—क्या करूँ मैं! मेरा वश ही क्या है!! दूसरे के हाथ बिकी हुई ज़िन्दगी ठहरी!

नीलाम्बर अब चुप नहीं रह सका। बोला—कुछ सुना।

किन्तु वीणा मर्माहत है। वह कुछ कहना नहीं चाहती ऐसे अवसर पर। कोड़े का आघात पीठ पर न लगकर उसके अन्तर पर लगा है। वह चुप ही रही।

नीलाम्बर बोला—हम लोग ज़िन्दगी को कितनी आसानी से बेच डालते हैं। बेचते समय इस बात का क़तई ध्यान नहीं रखते कि हम विक्रेता के हाथ की कठपुतली बने हैं।—हमारी वाणी मूक हो रही है, आत्मचेतना के कपाट अवरुद्ध हैं, अपने प्रति, ज्ञान और विवेक के उड़ते पंखों के प्रति, हम अपनी आँखें फोड़ डालते हैं। हम बहे चले जाते हैं। चाहे जहाँ बह जायँ, इसकी ओर नहीं देखते। प्रवाह जब आगे चलकर शिथिल पड़ जाता है, गहराई लुप्त हो जाती है

और हम पैरों के बल अपने को खड़ा पाते हैं, तब सोचते हैं और रोते हैं कि हम आ कहाँ पहुँचे हैं! इस प्रकार अन्त में एकाकी होकर ही तो हम जीवन को देख पाते हैं।

वीणा कुछ कहने ही जा रही थी कि उसने देखा, सामने जो दम्पति आ रहे हैं, उसका बाल-शिशु रो उठा है। पिता के कन्धे से लिपटा है वह। वह उसे चुपाना चाहता है, पर उससे वह शान्त नहीं हो पाता। धाय ज़रा फ़ासले पर है। माँ के पास वह जाना चाहता है। धाय पीछे से धीरे-धीरे चल रही थी, अब कुछ तेज़ी के साथ जा रही है। किन्तु वह बच्चा और ज़ोर के साथ रो पड़ा है।

नीलाम्बर बोला—तुमने देखा वीणा, आङ्गल सभ्यता की इस नक़ल को। बच्चा माँ का दुग्ध तक प्राप्त नहीं कर सकता है।—क्योंकि यौवन का मोह, वासना का मद, मातृत्व की छाती पर कसकर चढ़ा बैठा है। बस, इतना हम सीख पाये हैं कि नारी के ऊँचे वक्ष को सुरक्षित और सजग रखने के लिये हमें बच्चे के रोने की परवा नहीं करनी चाहिए और धाय रख लेने का सुअवसर हमारा सहायक बन गया है।

लपककर वीणा लाइटपोस्ट के सामने पहुँच गई। वहीं उसने देखा, बच्चा गोल-मटोल और सुन्दर है। बड़ी-बड़ी आँखें हैं, गुलाबी मांसल हाथों की नन्हीं-नन्हीं अँगुलियाँ उसकी कितनी प्यारी मालूम होती हैं। उसके जी में आया, उस बच्चे को उन महाशय से लेकर अपनी गोद में चिपका ले।

किन्तु बच्चा—ओः ! वह तो बड़े ज़ोर से चीख़ उठा है।

"मैं कहती हूँ, इसको इस वक्त साथ ले आने की ज़रूरत ही क्या थी ? और वह कलमुँही, हरामख़ोर धाय तब आयेगी, जब यह मर जायगा ! चीख़ने दो जी। मर भी जाय, तो थोड़ा चैन तो मिले।" उसकी माँ ने कहा।

"सुनो वीणा !"—हाथ पकड़कर नीलाम्बर उसे दूसरी ओर खींच ले गया।

"ज़रा-सा तुम्हीं न लेलो इसको। तब तक धाय आ जाती है। वह आ रही है।"

"इस पत्थर पर पटक दो। न रात चैन, न दिन चैन। जब देखो तब रोना ही इसने सीखा है। और भी बच्चे तो मैंने देखे हैं !—"

"लो, और सुनो वीणा !"—नीलाम्बर ने ज़रा-सा ठहर कर कहा।

वीणा का कलेजा धक्-धक् बोल रहा है। उसके शरीर का लोम-लोम कम्पित हो उठा है। टहलते हुए उसके पैर लड़खड़ाते उठते हैं। नीलाम्बर के साथ चल सकना मुश्किल है।

वह बोली—चलो, अब लौट चलें।

दोनों लौट पड़े।

वीणा चुप है। नीलाम्बर भी चुप है। कितनी उमंग लेकर वह टहलने चला था। किन्तु अपने साथ—अपने हृदय पर—वह पहाड़-सा भार लादे चल रहा है। प्रतीत होता है, जैसे उसकी

आत्मा को किसी ने चाकू से तराशना चाहा हो। लौटते हुए बाएँ ओर खड़े ज़ाकू पहाड़ पर फिर जो उसने एक दृष्टि डाली, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उस दम्पति की ओर देख-देखकर वह मुसकरा रहा है एक विद्रूप हास से। और उस हास की दीप्ति छिटक कर आ गई है नीलाम्बर के अन्तर के निकट।

थकित, शिथिल वीणा को थोड़ी दूर पर एक खाली रिक्शा देख पड़ा। वह बोली—अब मुझे आज्ञा दीजिए। मेरा सिर दर्द कर रहा है। तबियत भारी हो रही है। जाड़ा-सा बदन से फूट रहा है। ऐंठन सी होती मालूम होती है। मैं इस रिक्शा पर चली जाऊँगी।

नीलाम्बर ने तुरन्त उसके खुले गोरे मांसल बाहु पर हाथ रख दिया।—फिर कलाई देखी और मस्तक छुआ। बोला—सचमुच तुम ज़्यादा थक गई हो। हरारत भी शायद तुमको हो गई है। लेकिन अब मैं तुमको तुम्हारे निवास-स्थान तक भेजने चलूँगा।

"पर दूसरा रिक्शा तो है नहीं, यहाँ इधर। वीणा बोली— "क्या यह हम दोनों को एक साथ वहाँ तक थोड़ी दूर भी —नहीं ले जा सकेगा ?"

"शायद !"—उसने कहा।

दोनों बढ़ गये। रिक्शेवाला तैयार हो गया।

तीसरे दिन।

वीणा नीलाम्बर के स्टूडियो में घूम रही है। आज उसके पैरों में ऐसे चप्पल हैं, जिसमें क्रैपसोल लगा है। फ़र्श पर उसके

चलने का शब्द नहीं हो सकता। चुपचाप वह आई थी। बहुत धीरे से उसने परदा हटाया था। फिर धीरे से ही वह पार्टीशन के परदे के उस ओर चुपचाप चली गई थी।

प्रवेश करते समय उसने देखा था—नीलाम्बर ने एक नवीन चित्र का बैकग्राउण्ड तैयार किया है। आयल-पेंटिङ्ग करने का उसका इरादा है शायद। काम अभी शुरू ही किया है उसने। आराम-कुरसी पर पैर फैलाये फ्रेम में जड़े शीट की रेखाओं की ओर वह देख रहा है। दाहने हाथ में सिगरेट लिये हुए है। उसका धूआँ उड़ रहा है। धुएँ की रेखाएँ उन्मुक्त हो-होकर चक्कर मार रही है। एक के बाद दूसरी सिगरेट जलती, सुलगती और समाप्त होती जाती हैं। प्रायः अधजली सिगरेट की नोक पर राख का डण्ठल लटका रह जाता है।

वीणा ने चाहा कि दूर से ही उस चित्र के भाव का परिचय प्राप्त कर ले और काग़ज़ की गुल्ली बनाकर, उसमें चित्र का नाम लिखकर, नीलाम्बर के ऊपर फेंक दे। साथ ही अगर सम्भव हो सके तो पूर्ववत् छिपी हुई स्थिर बनी रहे। किन्तु जब उसे प्रतीत हुआ, यह सम्भव नहीं है, तो वह उस पर्दे के भीतर से ही ताली बजाकर खिलखिलाकर हँसती हुई नीलाम्बर की ओर चल पड़ी। उसने सोचा था, इस तरह वह उसकी प्रसन्नता में एक आकस्मिक प्लावन उपस्थित कर देगी। किन्तु वह यह देखकर अवसन्न हो उठी कि नीलाम्बर तब भी मूर्तिवत् स्थिर है। उसकी आँखें जैसे अश्रुकणों से चमक रही हैं, मुद्रा पर विषाद की गहरी छाप है। जान पड़ता है,

अत्यधिक भाव-दृप्त हो जाने के कारण उसे चित्रांकन का कार्य स्थगित कर देना पड़ा है।

पास खड़ी होती हुई वीणा बोली—बात क्या है ?

नीलाम्बर आँखें पोंछकर बैठ गया। सिगरेट सुलगाकर उसने एक कश लिया और खड़ा होकर कपड़े बदले बिना ही बाहर की ओर चलते हुए कहने लगा—चलो वीणा !

आवास से बाहर निकलती वीणा बोली—कपड़े नहीं बदले !

'हाँ, नहीं बदले" नीलाम्बर गुरु-गम्भीर वाणी में बोला—"रोज़ाना घूमने को चलते समय कपड़े बदलने में मेरी आत्मा को एक विशेष प्रकार की पीड़ा पहुँचती थी; यद्यपि मैंने तुमसे कभी कुछ कहा नहीं। मैं सोचता था, तुम्हारे साथ चलते समय मुझे तुम्हारे गौरव का ध्यान रखना आवश्यक है। पर मैं यह भूल जाता था कि कलाकार का भी अपना एक गौरव है। क्यों वह झूठ-मूठ लोगों को यह समझने का अवसर दे कि जिस नारी के साथ वह चल रहा है, टहल रहा है और हँस-हँस कर बातें कर रहा है, वह उसकी जीवन-संगिनी है। क्यों न वह ऐसे ढंग से रहे, जिससे वस्तु-स्थिति की यथार्थता के सम्बन्ध में किसी को कभी कोई भ्रम न हो।"

वीणा कहने जा रही थी कि यह आपका मेरे प्रति बहुत बड़ा अन्याय है। लोग यदि ऐसा समझें, तो उन्हें समझने दो। उनकी इस समझ में मैं तो अपना गौरव ही देखती हूँ। किन्तु उसने तुरन्त कहा कुछ नहीं।

उधर नीलाम्बर कहता चला गया—"कपड़ों में पड़े धब्बों से तुम मुझे पृथक् देखना चाहती हो वीणा, किन्तु मैं तो जीवन में पड़े धब्बों से अपने आपको पृथक् नहीं देख सकता। मैं एकाकी हूँ। व्यक्ति के साथ संयुक्त न होकर मैं तो भावना के साथ संश्लिष्ट रहता हूँ। परसों ज़ाकू पहाड़ से लौटकर मैंने जिस चित्र की कल्पना की थी, कल रात को वह (चित्र) पूर्ण हो चुका है। यद्यपि प्रकाश में तुमने देखा होगा कि पूर्णता का कोई चिह्न उस पर नहीं है।"

अवाक् वीणा बोली—मैं कुछ समझी नहीं।

"समझने की बात नहीं है वीणा" नीलाम्बर कहने लगा—"सच पूछो तो कलेजा थाम लेने की बात है। परसों मैंने सोचा था—एक चित्र ऐसा बनाऊँगा, जिसमें हरे-भरे छाया-तरु के नीचे एक मृत्यु-मुख में पड़ा बाणविद्ध पक्षी छटपटा रहा होगा, किन्तु चित्र का भाव रहेगा, उड़ता पंछी।"

इतना कहकर नीलाम्बर चुप हो गया। उसके जी में आया कि वह कहे—"हम सभी एकाकी हैं। क्यों व्यर्थ में हम यह समझने के भ्रम में पड़ें कि वीणा बजाने के लिए है। जब कि हम देखते हैं कि नीलाम्बर के शून्य निलय में वीणा का गुरु गम्भीर निनाद भी वैसा ही है, जैसा उसका मूक मिलन-संलाप"

किन्तु उसने कहा—कल, तुम तो साथ में थीं नहीं! परसोंवाली वह धाय मिली थी। रो रही थी बेचारी। कल १०५ डिग्री के ज्वर के बाद वह बाल-शिशु सचमुच सदा के लिए सो गया!

जो मैं ऐसा जानती

[१]

कई दिन से प्रभाकर एक होटल में ठहरा हुआ है। दिन-भर अपने कमरे में चुपचाप लेटा रहता है। जी ऊब उठता है, तो बरांडे में टहलने लगता है। कुछ पुस्तकें भी उसके साथ हैं। कभी-कभी वह उनमें से किसी एक के पृष्ठ भी उलटने लगता है। हाँ, रात को अलबत्ता कुछ घंटों के लिए बाहर निकलता है। सरदी के दिन ठहरे, तभी कोट-पैंट के ऊपर एक लंबा कोट भी वह पहन लेता है। कई महीने से उसने ठुड्ढी पर खुशनुमा दाढ़ी बढ़ा रक्खी है। चश्मा उसका एकदम नये फ़ैशन का है। उसके लैंसेज़ गोल न होकर थोड़े त्रिकोण हैं; एकदम श्वेत न होकर थोड़े डार्क। एक नाइट-कैप भी उसके

केश-गुच्छ पर मंडित रहती है।

जब उसने होटल में प्रवेश किया था, तब मैनेजर से, वार्तालाप के सिलसिले में, कहा था—"मुझे सिर्फ़ तीन दिन ठहरना है।" लेकिन तीसरे दिन उसने आप ही मैनेजर से जाकर कह दिया था—"अभी मुझे शायद दो-चार दिन और ठहरना पड़े।" बहुत प्रसन्नता से उसने यह बात की थी; उसकी मुद्रा पर उसका पुलकित मन जैसे झलमला उठा था।

मैनेजर के पास इन प्रवासियों के आवागमन का एक रजिस्टर भी रहता है। अन्य बातों के साथ उसमें आगत व्यक्तियों का पूरा पता और पेशा भी लिखा जाता है। प्रभाकर ने बतलाया था—वह कलकत्ते के 'क्राइसिस'-पत्र का प्रतिनिधि है। नाम उसका है रजनीकांत दास।

इधर कई दिन से इस होटल की दैनिक आय में आश्चर्य जनक वृद्धि हो रही है। किंतु इस आयवृद्धि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रवासी लोगों से न होकर उसके रेस्तोराँ से है। अनेक सभ्य नागरिकों की टोली-की-टोली आकर उसके कक्षों में भर जाती है। तभी खाद्य तथा पेय पदार्थों की माँग बहुत बढ़ गई है।

इन व्यक्तियों में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस होटल में, कुछ दिनों के लिए, एक कमरा लेकर रहने की इच्छा प्रकट की है। एक-आध बार वे अंदर जाकर ख़ाली और भरे कमरों को देख भी आये हैं। उनका कहना है, ठहरने के चार्जेज़ कुछ कम कर दिये जायँ, तो हम लोग आ जायँ। वे इस होटल के भोजन से बहुत संतुष्ट हैं।

इन व्यक्तियों में से एक (राधाकांत) ने कल पूछा था—"आपके यहाँ प्रभाकर नाम के कोई महाशय तो नहीं ठहरे हुए हैं ? वे हमारे बड़े घनिष्ठ मित्र हैं। लंबा शरीर है, गौर वर्ण। अधिकतर क्लीन शेव्ड रहते हैं।"

मैनेजर ने इतमीनान के साथ कह दिया था—"नहीं, मेरे यहाँ इस तरह के कोई महाशय नहीं आये।"

पर भोजन करके, बिल चुकाने के बाद, आज राधाकांत ने कह दिया—"कल प्रातःकाल ही मैं नंबर २७ के कमरे में आ जाऊँगा।"

और मैनेजर ने उत्तर में मुस्कराते हुए कहा था—"गुडलक।"

[२]

प्रभाकर लौट रहा था। सेविन-अप ट्रेन तेज़ी के साथ चली जा रही थी। सेकंड क्लास के एक डब्बे में गद्देदार बर्थ पर लापरवाही के साथ लेटा हुआ प्रभाकर अपने अतीत के स्वप्न देख रहा था।

"मुझे अपना नाम क़तई पसंद नहीं, मिस्टर पी। सच !"

उसके कथन के प्रकार में एक बाँकपन था, एक मस्ती।

वह मुस्कराई थी। उसकी वाम भृकुटि-भंगिमा उस क्षण कैसी विमोहक थी! मन में आया था—प्रभा मृगछौनी है। उसे चाहिए हरा-भरा वन, नदी का किनारा और लुका-छिपी के लिये भू-लुंठित छाया-तरु।

उसने पूछा था—"आख़िर क्यों ? तुम्हारा नाम मुझे तो बहुत पसंद आता है।"

"आता होगा पसंद। कौन जाने!—और तुम्हारा नाम तो मुझे और भी पसंद नहीं आता!"

बात कहकर वह खिलखिलाकर हँसी थी। हँसते-हँसते उसकी देह-यष्टि कुंचित हो-होकर कैसी विलसित हो उठी थी! उसके मन में आया था—प्रभा एक नन्हीं-सी चिड़िया है। फुदकना उसका जीवन है लक्षण—स्वरूप।

उसने तब कहा था—"हाँ प्रभा सचमुच, अपना यह नाम मुझे भी पसंद नहीं। नाम के गुण-रूप को लेकर मैं अपवाद जो हूँ।"

इस पर वह गंभीर हो उठी थी। उसने कहा था—"तुम नाराज़ हो गये। इतना पढ़-लिखकर भी मोडर्न कल्चर (आधुनिक सभ्यता) ग्रहण नहीं कर सके। मैं तो हँस रही थी!"

ट्रेन बनारस-कैंट में खड़ी थी। प्लेटफ़ार्म पर 'चाय गरम्गेम', मीठा-गरम दूध चहिए', 'पान-सिगरेट'—(धीरे से) 'हुज़ूर, पुलाव-ज़रदा?' तथा 'पूड़ी-मिठाई' की आवाज़ों ने प्रभाकर को सावधान कर दिया। तब कंबल से उसने अपना सिर ढक लिया।

थोड़ी देर में, जब ट्रेन स्टार्ट होने को थी, दूसरी ओर पूर्व की बर्थ पर एक और महाशय आ डटे।

प्रभाकर फिर अपने स्वप्नों के हिंडोले पर जा पहुँचा।

—"कुछ ठीक है, कितने दिनों से वह देखने को नहीं मिली! तिस पर वह इन दिनों उसके नगर में भी जा पहुँचा था। न बाज़ार में देख पड़ी, न गंगा-तट पर। रेस्तोराँ और होटल में न सही, पर सिनेमा-हाउस में तो उसे मिलना चाहिए था।

"माना, वह हिंदू-रमणी है । अपने स्वामी को पाकर उसने अपनी एक दुनिया बना रक्खी है। उसकी गोद में दो-एक बच्चे भी खेलते हैं। किन्तु·· न, यह किन्तु कोई चीज़ नहीं प्रभाकर। प्रभा पति-प्राणा नारी है । वह तुझे भूल गई है। और यही उसके लिये श्रेयस्कर भी है।

"वह तुझे भूल गई है" बार-बार मानो ये ही शब्द उसके कानों में आ रहे थे।

उसने करवँट बदल ली । एक आग-सी उसके भीतर दहकने लगी। तब वह उठकर बैठ गया।—"यह विश्व उसके लिए कुछ नहीं। चारो ओर से उसके लिए वह केवल एक शून्य है। क्यों वह छिपा-छिपा—भागा—फिरता है ? स्वदेश की समस्याओं को लेकर ?—हँ-हँ, जीवन से परे भी कोई स्वदेश है ?—भूलते हो प्रभाकर। व्यक्ति के स्वार्थ के आगे समाज और राष्ट्र के हितों को हमें अधिक महत्व देना ही पड़ेगा।

"मानता हूँ, व्यक्ति समाज के आगे नगण्य है; किन्तु व्यक्ति अपने जीवन को खोकर किसका बन सका है ? प्रभा की एक-एक साँस में मेरा जीवन है। उसके पत्र रक्खे हैं। उसके एक-एक शब्द में जिस आत्मा का निवास है, वह मेरी है—केवल मेरी । स्वामी और बच्चे भी उसके नहीं। शरीर से परे जो हृदय है, और हृदय से परे जो प्राण ; उन प्राणों से भी परे अगर उसका कोई है, तो वह मैं हूँ—मैं, प्रभाकर।

वह उमँग उठा। उसका लोम-लोम सिहरने लगा।

अरे, तीन बज गये, और वह सोया नहीं ! तब उसे अपनी स्थिति का बोध हो आया। वह सोचने लगा—फ़रार की रातें हैं। जीवन के प्रकृत उपभोग को जला-जलाकर व्यतीत होती हैं और चिता की भाँति धीरे-धीरे भस्मसात्।

[३]

शहर-भर में कई दिन तक अनेक जगह तलाशियाँ हुई थीं। किसी तरह पुलिस को पता चल गया था, प्रभाकर आजकल यहीं आया हुआ है। उस होटल में भी तलाशी हुई जहाँ प्रभाकर ठहरा था। इधर-से-उधर अनेक तार खटके थे। फ़ोन पर भी बातें हुई थीं; नगर और विशेषकर सी० आई० डी० के केंद्रों में एक हलचल मची हुई थी।

एक दिन था, प्रभा समझती थी—प्रभाकर उसी का है। आज भी वह मन-ही-मन, कभी-कभी, समझ लेती है—प्रभाकर उसी का है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रभा किसकी है?—हाँ, प्रभा किसकी है?

अभी प्रभा सोचती थी—प्रभाकर उसका है। किन्तु अब मानो उससे कोई कह उठता है—तुझे अधिकार क्या है कि तू कह सके—प्रभाकर मेरा है?

प्रभा का जैसे सब कुछ खो गया हो!

कौन कहता है प्रभाकर उसका है? झूठ—एकदम झूठ। प्रभा हिन्दू नारी है, पति-प्राणा, सती। प्रभाकर उसका कोई नहीं है। भले ही कभी वह उसका कोई रहा हो। जीवन के साथ सम्बन्ध होते हैं सम्बन्धों के साथ घसिटता हुआ जीवन नहीं चला करता। मनुष्य

स्थितिशील प्राणी है और स्थितियाँ गतिशील होती हैं। आज प्रभाकर उसका कोई नहीं है।

वाह, यह अच्छा तर्क रहा! अभी जो थोड़ी देर में कोई कह उठे—स्वामी ही तेरा कौन है तो?

ठीक तो है। स्वामी भी उसका कौन हो सकता है? अगर वह उसका है, तो प्रभाकर भी तो है। वही उसका मन का साथी है, प्राणों का, स्वप्नों का। स्वामी कर्तव्यों में आवृत स्थूल जगत् का—नियति से विजड़ित इस पिंजर-बद्ध जीवन का। उसके साथ सम्बन्ध है समाज का; दूसरे के साथ उन कल्पनाओं का, जो समाज को लेकर बंदिनी नहीं बन सकतीं। जिनके पर होते हैं, जो खुले अंबर में विचरण करती हैं। समाज और उसकी सीमाओं का कलुष और कर्दम जिन्हें छू नहीं पाता।

उसी दिन भोजन करते-करते स्वामी ने कहा—'लाहौर जाना है। एक केस में सरकार की ओर से मुझे पैरवी करनी है। प्रश्न पैसे का उतना नहीं, जितना ख्याति का है। तुम अकेली बनी रहोगी?"

"क्यों, बनी रहने को क्या है? इस बार यह ऐसी कोई नयी बात तो है नहीं।"

"मैंने पूछा इसलिए कि पीछे तुमको कोई शिकायत न हो। एक बात मेरे मन में यह भी आयी कि शायद तुम भी इस केस की पैरवी देखना चाहो।"

तरंगित प्रभा बोली—"अच्छी बात है। मैं भी चलूँगी।"

उसके भीतर खलभली मच गई। उसका प्रभाकर भी तो राज-द्रोही है—उसका प्रभाकर। ओह! कितने दिनों से उसने उसे नहीं देखा! उसकी आँखें सजल हो उठीं। स्वामी के सामने से हटकर वह अन्यत्र चली गयी।

[४]

होटल छोड़कर प्रभाकर शहर से भागकर सीधा चला नहीं गया। वह अपने पुराने प्रोफ़ेसर मिस्टर विभूतिभूषण मुखोपाध्याय के यहाँ ठहर गया था। विभूति बाबू उसके विद्यार्थिजीवन के अन्यतम सहायक और प्रशंसक थे। वह चाहते थे, प्रभाकर आई० सी० एस्० बने। किंतु जब वह दूसरे पथ का पथिक बन गया, तब उनकी सारी आशाओं पर जैसे पानी फिर गया। उन्हीं विभूति बाबू के बँगले पर जब दो-तीन दिन वह रहा, तो वे आनंद से पुलकित हो उठे।

शहर में दमन का दौर उस समय पूरे ज़ोर पर था। प्रभाकर ने ऐसे समय भागना उचित नहीं समझा। जब शहर में पूर्ण रूप से शांति स्थापित हो गई, सी० आई० डी० ने समझ लिया—वह यहाँ नहीं है; तब, कई दिन बाद वह वहाँ से टला था।

× × ×

इलाहाबाद-स्टेशन पर जान पड़ा, उस डब्बे की अवशिष्ट बेंचों पर और भी एक कुटुंब आ डटा है, अर्ध-निद्रित अवस्था में प्रभाकर को केवल इतना ज्ञात हुआ था। सिर से कंबल हटाकर उसने कुछ देखना उचित नहीं समझा था। अनेक प्रकार की भावनाएँ उसके मानस में आ-जा रही थीं। अनेक प्रकार के स्वप्न बनते और नष्ट हो जाते थे।

एक गाँव है। नदी का तट, आम्र-वन। एक झोपड़े में वह रहता है, प्रभा को लेकर। वह खाना बना रही है, और प्रभाकर निकट के गाँवों में घूमकर लौटा है। दोपहर के बारह बज गये हैं। उसे बड़ी भूख लग रही है। वह डॉक्टर है। कई गाँवों में मलेरिया का बड़ा प्रकोप है। उसने साइकिल से उतरते ही घंटी बजा दी, जिसमें प्रभा को मालूम हो जाय कि वह आ गया है।

वह कमरे के अंदर गया है। हैट उतारकर उसने एक खूँटी पर टाँग दी है। कपड़े बदलकर अब उसने केवल एक लुंगी पहन ली है। शाक तो बन गया है। सिर्फ़ रोटियाँ—कुछ थोड़ी-सी—और बनाने को हैं। तब वह चौके में चला गया। बोला—"उठो, उठो। अब तुम विश्राम करो। अब मेरी बारी है। देखना, मैं शर्त लगाकर कहता हूँ—मेरी पकाई हुई चपातियाँ तुम्हारी पकाई चपातियों की अपेक्षा देखने में ख़ूबसूरत और खाने में कहीं ज़्यादा स्वादिष्ट होंगी।"

प्रभा कहती है—"इन बातों में क्या रक्खा है ? तुम्हें तो केवल बातें बनानी आती हैं। जब गिनती की दो रोटियाँ सेंकने को रह गईं तब मुझ पर शान ज़माने चले हो! बैठो, मैं खाना परोसती हूँ। बैठो, तुम बैठो तो। अजी, कहा मानो···।"

× × ×

एकाएक सचेत हो पड़ा। उसे किसी का मीठा स्वर सुनाई पड़ा, कुछ परिचित-सा। उसे संदेह हुआ, प्रभा तो नहीं है।"

पागल! प्रभा से भेंट होने को होती, तो वहीं न हो जाती।

फिर स्वरों को लेकर तू उसे खोजेगा ? विश्व कितना विस्तृत है। ज़रा अपने होश की दवा कर !

ख़ैर, न हो प्रभा। कोई चिंता नहीं । मैं अपना स्वप्न क्यों अधूरा रक्खूँ ?

हाँ, तो वह माना नहीं । बाक़ी चपातियाँ उसी ने सेकीं। फिर खाना परोसा गया। दोनों खाने बैठे। प्रभा ने अनुभव किया, सचमुच प्रभाकर की सेंकी चपातियों का स्वाद ही कुछ और है। वह बिहँस रही है। कहती है—"बाज़ी मेरे हाथ रही। तुम्हारी सेंकी चपातियाँ मुलायम नहीं।"

अन्य गुणों की चर्चा न करके वह प्रकट करती है केवल उनका अवगुण। और, वह इसीको लक्ष्य करके कहता है—"तुम्हारी शैतानी मैं ख़ूब समझता हूँ। मैंने कब कहा था, मेरी सेकी चपातियाँ मुलायम होंगी । कोमलता की सृष्टि करना मेरा गुण नहीं, उसका प्रतिनिधित्व मैं स्वीकार भी न करूँगा, किंतु कहो क़सम से कि मेरी बनाई चपातियाँ कुरमुरी नहीं—सोंधी नहीं।"

और प्रभा मुस्कराकर कह उठती है—"और जली नहीं हैं ?"

× × ×

फ़तेहपुर स्टेशन आ गया है। डब्बे में दिन का प्रकाश फैला हुआ है। प्लेटफ़ार्म से आवाज़ें आ रही हैं—'हुज़ूर, टी चाहिए।'—'तुम्हारे पास आज का 'नेशनर बिल्ड़' है ?'—चाय गरेम'—'लाओ पैसे निकालो, यह रुपया देना है। जल्दी !' 'ज़रा देख के चलिए साहब, मैं खाना खा रहा हूँ !'—'हजूर, एक ही आना ! मेहनत भी देखी होती !'

गाड़ी ने सीटी दी। फक, फाक, फक्-फक्, फक्…… ।

प्रभाकर उठ बैठा। चश्मा अब भी उसकी आँखों पर चढ़ा हुआ था। उसने देखा, सचमुच प्रभा है अपने परिवार के साथ। उसका जी चाहा, वह उससे दो बातें करे। किंतु वह बोला नहीं। बनारस-कैंट पर जो साहब पश्चिमी बेंच पर आ डटे थे, उठकर उसे ध्यान से देख रहे थे।

वह उठा। सिगार निकालकर उसे होठों से लगाया। दियासलाई से जलाकर दो कश लिये। फिर उस घूरनेवाले आदमी के निकट जाकर उससे पूछा (स्वर बदलकर वंग-भाषा-मिश्रित शब्दों में)—"मोशाय, आपनार दौलतखाना ?"

वह एकाएक जैसे सिटपिटा गया। बड़ी कठिनता से अपने को सँभालकर बोला—"मैं, मैं आरा, पटना हाँ, पटना से आ रहा हूँ"

एक सिगार उसकी ओर बढ़ा दिया।

उसने अस्वीकार करते हुए कहा—"एक्सक्यूज़ मी सर (माफ़ कीजिए महाशय)।" उधर प्रभाकर लैट्रिन में घुस गया।

उस व्यक्ति ने लक्ष्य किया—उसकी जेब में कोई कड़ी चीज़ है। खिड़की से छूकर 'कट' से बोली है।

प्रभाकर जब से उठा है, प्रभा भी बहुत सतर्कता से उसे देख रही है। बार-बार उसके मन में आता है—हो-न-हो, यह प्रभाकर है। वैसा ही लंबा शरीर, वही वर्ण, वैसी ही भाषा।

प्रभाकर को लैट्रिन में बड़ी देर लगी। उस व्यक्ति ने इस पर भी ध्यान दिया।

इस बार ज्यों ही प्रभाकर अपने बिस्तर पर आया, प्रभा कुतूहल से उसकी ओर देखने लगी। किन्तु प्रभाकर ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

[५]

आँधियाँ आ-जा रही हैं। क्षण-क्षण पर स्थिर भावनाएँ बदलती जाती हैं, उड़ती जाती हैं। कर्तव्य की कठोरता से जकड़ा, बँधा हुआ मनुष्य एक ओर है; उद्देश्य की सिद्धि के पथ में जो अपने जीवन तक का उत्सर्ग किसी भी क्षण कर सकता है। दूसरी ओर एक पिपासाकुल प्राणी। वर्षों से प्रभा जिसके स्वप्निल पंखों पर ही उड़ी-उड़ी फिरती रही है। साक्षात्कार तक जिसका उसके लिये दुर्लभ रहा है, वही प्रभा उसके सामने है; परंतु वह उससे बोल तक नहीं सकता, उसके सामने प्रकट तक नहीं हो सकता! कभी उसके मन में आता है, वह इस बंधन को त्याग दे। खुलकर दो बातें उससे करले। उसके स्वामी के सामने ही वह एक बार प्रभा की प्रकृति का परिचय देकर खिल-खिलाकर हँस पड़े, और कहे—ह-ह-ह-ह! तुमको मैंने कैसे धोखे में डाल दिया! तुम मुझे पहचान तक न सकीं!!

किन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचने लगता है— जीवन के इस ज़रा-से मोह, इस क्षणिक आनंद के लिए वह अपनी इतनी साधना—तपस्या—को व्यर्थ कर डाले, यह नहीं हो सकता। हाँ, नहीं हो सकता।

उधर एक बार प्रभा के मन में आता है—निश्चय यह प्रभाकर ही है। मुझसे बोलना नहीं चाहता, क्योंकि मैंने उसके साथ

विश्वासघात किया है। भीतर-ही-भीतर व्यथा से उसका हृदय जलने लगता है। तभी तो वह राजद्रोही बना है! उसे अपने जीवन के प्रति कोई मोह नहीं रह गया। इस मोह को तो हथेली पर लेकर वह चल रहा है। किसी भी क्षण उसका उत्सर्ग कर सकता है! तब उसे क्यों मेरी अपेक्षा हो! वह प्रभाकर है—उस पार रहता है। बीच में रहना उसने सीखा नहीं। उसके जीवन में कहीं कोई द्विधा नहीं—रंध्र नहीं। वह अकेला है, अद्वैत है।

प्रभा ने चाहा वह उसके चरणों पर अपना मस्तक टेक दे, और तर कर दे उन्हें अश्रु-धार से; किन्तु इतनी दूर चला आया हुआ उसका नारीत्व, उसका दाम्पत्य और यह सलोना मातृत्व! फिर, वह किसी को एक बार धोखा दे सकती है—नहीं; साफ़ शब्दों में—दे ही चुकी है। तब क्या यह उचित होगा कि वह अपने स्वामी को भी धोखा दे, और इन अबोध बच्चों को! छिः !!

कानपुर-स्टेशन आ रहा है। कानपुर! युक्तप्रांत का सर्वश्रेष्ठ व्यापारिक केंद्र—अमर शहीद गणेश भाई का क्रीड़ा-क्षेत्र। तीर्थवर, तुम्हें प्रणाम है।

प्रभाकर कुछ अस्त-व्यस्त हो उठा है। वह प्रभा की ओर देखना नहीं चाहता, तो भी देख ही लेता है। उसके कपोल आज भी वैसे अरुणारे हैं, उसकी आँखें आज भी वैसी ही नुकीली। कहीं कुछ भी नहीं बदला है प्रभाकर! किन्तु कानपुर जो आ गया है। उसे ब्रेक-फ़ास्ट करना है और पुल के नीचे खड़े दिलीप से मिलना है—उसे कुछ सूचनाएँ देनी हैं।

गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर लगती है।

"थोड़ी देर से तुम इतनी गंभीर क्यों हो रही हो प्रभा?" उसके स्वामी ने पूछा—"किसी का खयाल आ गया क्या?"

ट्रेन खड़ी हो गई है। उतरनेवाले लोग उठकर खड़े हो गये हैं। आनेवाले आने की चेष्टा में हैं। इस आवागमन में धैर्य, शांति, स्थिरता और संतोष की कहीं गति नहीं, देर होने पर आने-जाने-वाला रह भी सकता है। और प्रभाकर चट से डब्बे से बाहर हो जाता है। पीछे से और बहुतेरे व्यक्ति चले जाते हैं।

बीच में प्रभा कहने लगती है—"हाँ, कुछ इसी प्रकार की बातों के सोच में पड़ गई थी। यहाँ जो महाशय बैठे हुए थे, यह बिस्तर छोड़कर जो अभी बाहर गये हैं, जानते हो, कौन थे?"

"कौन थे?" स्वामी ने अधीर उत्सुकता से पूछा।

"वह थे ·····के केस अभियुक्त श्रीप्रभाकर।" प्रभा ने इधर-उधर देखते हुए कहा।

"तुम कहती क्या हो प्रभा!" उसके स्वामी ने अत्यन्त विस्मय से पूछा—"तुम उसे पहचानती हो?"

अधीर, व्याकुल और मर्माहत प्रभा बोली—"पहचानती हूँ।"

× × ×

किन्तु अवसर आने पर प्रभाकर के सामने वही प्रभा भीतर से पछताती, हाथ मलती, ऊपर से दृढ़ और स्वाभाविक रूप से कहती है—"मैं नहीं जानती कि यह कौन हैं, कहाँ रहते और क्या करते हैं। मैंने इनको कभी देखा तक नहीं।"

यद्यपि वह जानती है, अब उसके इस कथन का कोई मूल्य नहीं। प्रभाकर को मुक्त कराना उसकी सामर्थ्य के बाहर है।

प्रभाकर मूर्तिवत् स्थिर है। विषाद और हर्ष, वेदना और उसका माधुर्य उसके लिये एक शून्य है—शून्य। किन्तु बार-बार प्रभा के मन में आता है............।

भ्रम

सुरेश को जीवन में और तो सारी बातें मिलीं, केवल एक तत्पर-बुद्धि नहीं मिली। और, यही अभाव उसके जीवन के लिये अतीव अशांतिकर बन गया।

मान लो, मकान से निकलकर कहीं चल दिए हैं; क्योंकि कोई कार्य ही ऐसा आवश्यक आ गया है। चार आदमी कहीं एकत्र हो गये। अनेक प्रकार की बातें छिड़ गईं। एक आदमो जिसके हाथ में एक संवाद-पत्र है, बीच में बोल उठा—"आपने जवाहरलालजी का वक्तव्य पढ़ा? ज़िंदादिली इसे कहते हैं! ऐसा सिंह-गर्जन किया है पंडितजी ने कि बस, कुछ पूछिए मत। मेरा तो रोआँ-रोआँ उत्साह से पुलकित हो उठा।" सुरेश ने चाहा कि वह संवाद-पत्र

लेकर पढ़े। एक बार इधर देखा, फिर उधर; तब प्रतीत हुआ कि अरे! चश्मा तो ताक़ पर ही रक्खा रह गया!

एक बार लखनऊ जाना था। पाँच बजे सबेरे उठकर तैयारी करते रहे। कभी यह काम, कभी वह। सोचते रहे, कोई बात छूटने न पाये कि पीछे पछताते ही रह जायँ। किसी तरह चले, ताँगे पर बैठे। पहुँचे स्टेशन। लखनऊ का किराया दो रुपया एक आना लगता है। और, आपके पास तो खुदरा पैसे हैं नहीं। दस रुपये का नोट है। ताँगेवाले को पैसे देने हैं, वह अलग चिल्ला रहा है—"बाबूजी पैसे।" बोले—"टिकट ख़रीद लें, तब फुटकर पैसे मिलेंगे।" बुकिंग-आफ़िस पहुँचे, टिकट माँगते हुए नोट देने लगे। पर ऐं! वहाँ भी पैसे नदारद! तब इधर-उधर ताकने लगे। निकट के आदमियों को लगे अध्ययन करने। फिर जब सवाल कर बैठे, तो उत्तर में इनकार पाकर अपने आपसे ही झुँझला उठे—क्या करें, क्या न करें। बड़ी मुसीबत है। ख़ैर साहब, जो किसी प्रकार नोट भुनाया, और पैसे भी हुए, तो तब तक ट्रेन चल दी।

भाग्यवादी ठहरे। भावी प्रबल होती है। होनहार को कोई कैसे टाल सकेगा! मैं कर ही क्या सकता हूँ। जो पहले से निश्चित है, चाहे सिर भी दीवार पर दे मारूँ, वह टलेगा कैसे, उसे तो होना ही है न? यही सोचकर ऐसे अवसरों पर संतोष कर लेते हैं, क्योंकि मानते हैं कि संतोष ही जीवन है। अन्यथा बड़-बड़ चाहे जितना करते रहो, किये-धरे कुछ होगा नहीं; और जो कुछ होने को है, वह टलेगा नहीं, वह तो होकर ही रहेगा।

भोला प्रातःकाल। ज़रा-ज़रा-सी बदली। बैठे कुछ मनन कर रहे हैं, पुस्तक हाथ में है, और ध्यान-मग्न हैं। सोचते हैं कि 'पहले योग्य बनो, तब इच्छा करो।' ठीक तो है, बिना योग्य बने इच्छाएँ पूरी कैसे होंगी! पर थोड़ी देर बाद इस विचार के विरुद्ध सोचने लगे—किंतु दृढ़ इच्छा-शक्ति के बिना योग्य भी नहीं बना जा सकता; ग़लत कहावत है। उसने इच्छा-शक्ति का महत्त्व समझा नहीं! बेवक़ूफ़ है वह, साधारण-सी बात भी नहीं समझता!

इसी क्षण पड़ोस में रहनेवाले जागेश्वर का भीषण स्वर, उसकी स्त्री के रुदन की मर्मांतक चिल्लाहट और उस पर होनेवाले प्रहारों की अवशिष्ट ध्वनि गूँज उठी। सुनकर स्तंभित हो उठे! बात-की-बात में कमरे के भीतर जाकर पलँग पर गिर पड़े! तकिया पर सिर रख लिया, और घुटनों के बल पट पड़ रहे।

× × ×

रागिनी को उसने मारा था।

मारा था; क्योंकि उसने एक नोट चुराया था। वह सौ रुपए का था। उस रागिनी को उसने पहली बार मारा था, और मारने के इतिहास का वह पहला वार ही अंतिम हो गया था। लेकिन उसने उसे मारा तो था ही। और, स्त्री को मारना अपनी आत्मा को मारना है, क्योंकि वह उसकी अपनी आत्मा ही तो होती है। जीवन की प्रत्येक साँस के साथ उसका सम्बन्ध है। वह शरीर से भिन्न होकर भी अपने से भिन्न नहीं होती, क्योंकि उसमें अपना प्राण खेलता है।

उसने इतना मारा था कि वह बेहोश हो गई थी। वह तब कुछ सोच-समझकर उसे हास्पिटल ले गया। एक सप्ताह-भर वहाँ रही, तब कहीं स्वस्थ हुई। सुरेश ने उससे क्षमा माँगी। क्योंकि वह मानता है कि स्त्री को मारना एक तरह की पशुता है। और, आदमी होकर जो व्यक्ति पशु हो जाता है, वह तब आदमी कहाँ रह पाता है। उसे तो फिर पशु ही बना देना चाहिए। वह भी उस योनि में जाकर अपने जी की मुराद पूरी करले।

उस घटना के पश्चात् रागिनी अनेक वर्षों तक जीवित रही। सुरेश को अपनी उस दिन की बात कभी नहीं भूली। वह उस दिन का बराबर स्मरण कर लेता, और फिर, बार-बार, उससे क्षमा माँगता। रागिनी के दाड़िम-दशन झलकने लगते। वह हँस देती। कहती—अजीब क़िस्म के आदमी हो! बार-बार वही बात। मुझे और उलटे शर्मिंदा करते हो! कितनी बार कहूँ कि मैं उस दिन को भूल गई, भूल गई, सर्वथा भूल गई, सदा के लिये भूल गई। कोई बात ही न हुई थी। तुम्हीं भूल रहे हो, जो सोचते हो कि हुई थी।

सुरेश रागिनी के पास आकर उसे छूता हुआ पास, बिलकुल पास, बैठ जाता। उसकी आँखों में अपनी आँखें भर देता। उसके एक हाथ को अपने दोनों हाथों मे दबा लेता, और कहता—"तुम कितनी मधुर हो रागिनी! कितनी प्राणमयी!! तुम मुझे कभी धोखा तो न दोगी? जीवनांत तक मेरे उर के तार-तार में झंकृत रहोगी न? तुम्हें कोई शिकायत तो नहीं है मुझसे? कोई

कष्ट तो नहीं है तुम्हें ? तुमने बहुत दिनों से मुझसे कोई फ़रमाइश नहीं की। तुम मुझसे नाराज़ तो नहीं हो ? तुमने मुझे माफ़ कर दिया न ? बताओ, बोलो, बोलो !"

कहते-कहते उसकी आँखें भर आतीं। उसका कंठ-स्वर तक भीग उठता।

रागिनी उसकी इस अत्यधिक भावुकता से तंग आ गई थी। तब वह अनिच्छा-पूर्वक अनावश्यक वस्तुओं की माँग पेश कर देती, और किसी तरह उससे अपना पीछा छुड़ाती, क्योंकि वह जानती थी कि उनका भ्रम इस तरह दूर न होगा।

कभी वह कहती—"तो फिर मेरे लिये तीन दर्जन साड़ियाँ ला दो। मैं रोज़ाना साड़ी बदलूँगी।"

सुरेश का मुख प्रसन्नता के आलोक से चमक उठता। कहता—"वाह ! कितनी अच्छी माँग तुमने की है ? वह-वा-वा ! क्योंकि मैं सुरेश हूँ, सुरेश ! रोज़ाना साड़ी नहीं बदलोगी; तो मैं यह कैसे समझूँगा कि मैं सुरेश हूँ।"

वह तब अपने को सँभाल न सकता। उसे अपनी भुजाओं में भर लेता, और तब रागिनी मुँह बिचकाकर अपने को छुड़ाती हुई-सी कह देती—"बड़े चालाक हो ! इसीलिये यह सब तमाशा किया था ?"

× × ×

सुरेश रो रहा है। उसका तकिया भीग गया है। आँसुओं का झरना है कि पावस का नर्तन ! और फिर वह छिपा कहाँ रहा है

अब तक, जो इसी समय ऐसा उद्वेलित हो उठा है?

बात यह है कि ग़लती रागिनी की नहीं थी। उसे उसने व्यर्थ ही में मारा था। उसने अनेक बार सोचा था कि वह उस दिन के भेद को खोल दे, वास्तविक बात प्रकट ही कर दे, लेकिन कुछ सोच-सोचकर वह उसे टालता ही रहा। क्योंकि अभी तक तो वह यही समझती है कि नोट खो ही गया था। पीछे से कुछ और समझेगी, तो उसके हृदय को कैसी पीड़ा पहुँचेगी! तब वह उससे उस बात को कैसे प्रकट करे! न, वह उससे इस विषय में कुछ भी कह न सकेगा। यही एक बात ऐसी है, जिसे वह उससे छिपाएगा, जिसे उससे छिपाना ही श्रेयस्कर है।

तो फिर उस नोट के चुराए जाने का संदेह ही उसने रागिनी पर क्यों किया था? क्योंकि वह जानता था कि वह जब कभी कहीं कोई नोट भूल से छोड़ गया है, नौकरों द्वारा चोरी हो जाने के भय से उसे रागिनी ने ही उठाकर रख लिया है। तब उस दिन भी उसी ने रख छोड़ा है, और वह अब उसे स्वीकार क्यों नहीं कर रही है? क्यों वह उससे झूठ बोल रही है, जो उसका स्वामी है, स्वामी!

लेकिन मान लो, उसने उसे उठाकर रख ही लिया है, और उसे वह बात छिपाना ही अभीष्ट है। माना कि वह नहीं स्वीकार करना चाहती इस बार इस नोट को। तो क्या इसी एक क्षुद्र बात के लिये उसे उस नारी—उस अपनी आत्मा के व्यक्तित्व—के प्रति हिंसक बनने की आवश्यकता है? कैसा पिशाच हो गया था वह उस समय! उसने अपना सारा विवेक ही खो दिया था।

एक दिन जब सुरेश ने फिर आंदोलित पश्चात्ताप में डूबकर रागिनी को तंग कर डाला, तो उसने भी ऐसी बात कह दी, जिसे सुरेश पूर्ण न कर सका। उसने कह दिया—'बहुत मुझे तंग करते हो। अगर मैं ऐसी वस्तु माँग बैठूँ, जिसे तुम न दे सको, तो ?"

सुरेश उत्साहित होकर बोला—"मेरी सामर्थ्य के भीतर माँगने की शर्त है। शक्ति के परे कैसे दे सकूँगा ?

वह बोली—"पर इसका निर्णय कौन करेगा कि तुममें उसे देने की शक्ति है या नहीं ?

सुरेश ने कहाँ—"इस विषय में मैं तुम्हारे साथ झगड़ा न करूँगा हम दोनों मिलकर उसे तय कर लेंगे।"

अब रागिनी ने आव गिना न ताव, कह दिया—"तो मुझे एक खिलौना चाहिए – ऐसा, जिससे हम लोगों की आत्मा का संबंध हो।"

वह बोला—"यह ईश्वरीय विधान है। इसमें मेरा वश काम न देगा।"

"लेकिन पश्चिमीय विद्वान् तो इसे नहीं मानते। उनका तो कहना है कि हमीं अपने भविष्य के निर्माता हैं। और, इस विषय में उन्होंने अपने आपको बहुत कुछ सफल भी सिद्ध कर दिया है।"

"उनकी सफलता भी अभी तक जीवन, और अजीवन—जन्म और मरण—के सम्बन्ध मे पूर्ववत् सीमित है। ईश्वरीय विधान में वे भी दख़ल नहीं दे पाये।"

रागिनी कुछ सोचकर चुप रह गई। इस बात को और आगे बढ़ाने के लिये इस समय वह तैयार न थी। और, उसका मौन ही

तब सुरेश के लिये एक उत्तर बन गया। वह खुद ही सोचने ल०। कि संतानोत्पत्ति के विषय में ईश्वरीय विधान को अटका देना भी कोई ध्रुव, निश्चित न्याय नहीं है।

× × ×

सुरेश के आँसू बंद नहीं हुए हैं, क्योंकि रागिनी की इस याचना की भी एक अलग कहानी बन गई है। कालांतर में सुरेश रागिनी की इच्छा पूर्ण करने में सफल हुआ। किन्तु तब वह रागिनी ही अपने आप प्रशांत हो गई। वही उसे ग्रहण न कर सकी। उस खिलौने को प्राप्त करते-करते वह स्वतः अंतर्धान हो गई।

लो, रागिनी भी चली गई, और वह उससे उस बात को भी स्पष्ट रूप से न कह सका।

× × ×

सुरेश रो रहा था। इतने में आ गया जयंत, उसका एक-मात्र पुत्र। देखते ही बोला—"अरे, तुम तो रो रहे हो! यह तुम्हारी बहुत ख़राब आदत है। इस तरह कैसे निभेगा? मुझे इस तरह चलना क़तई स्वीकार नहीं। यह तो एक तरह से मेरा बुरा चेतना है—मुझे असमय निराश्रित कर जाने के लिये तत्पर हो जाना। मैं अभी चार आदमियों को बुलाकर तुम्हें क़ायल करूँगा। जब देखो, तब सोचना सोचना, रोनी-सी चेष्टा बनाए रखना और मौक़े बेमौक़े जब देखो, तब चुपचाप रोते रहना।—यह भी कोई मनुष्यता है! यह तो कोई ऊँचा आदर्श नहीं है। चलो उठो, मुँह तो धो लो। अच्छा, यहीं धो लो। अरे मक्खन, पानी एक गिलास ले आना।"

नौकर पानी ले आया।

मुँह धोकर, आँखें पोछकर, कुछ शांत होकर सुरेश बोला—"यह जागेश्वर साला बड़ा दुष्ट है, अपनी स्त्री को बहुत बेदर्दी से मारता है। इससे कह देना होगा कि अब मुझे तुम्हारे ख़िलाफ़ क़ानूनी कार्रवाई करनी पड़ेगी! मुहल्ले-भर की शांति-भंग करने का वह कारण बन जाता है। जब देखो तब उस बेचारी अस्थियों की माला बनी स्त्री को रुई की तरह धुनकने लगता है। बिल्कुल जंगली है वह, बे सींग पूँछ का जानवर; क़साई!

जयंत उसी समय जाने लगा। तब सुरेश ने फिर कहा—"और सुनो जयंत। तुम्हें मैंने कभी बतलाया नहीं। बतलाने का कोई वैसा प्रसंग भी नहीं आया। जानना चाहते हो, मुझे इस समय क्यों रोना पड़ा?"

जयंत बोला—"बताओ।"

बात यह है जयंत कि दुनिया की सारी घटनाएँ किसी-न-किसी भ्रम-वश होती हैं। और, भ्रम के लिये किसी को दोषी ठहराना अन्याय है। क्योंकि भ्रम तो अज्ञानता का द्योतक होता है न? मुझे भी एक दिन ऐसा ही भ्रम हो गया था। मैं भी तुम्हारी मा को मार बैठा था। उसी का पश्चात्ताप अभी तक चल रहा है। मैं समझता था कि मेरा सौ रुपए का एक नोट उसी ने पाकर रख लिया है, और वह उसे बतलाती नहीं है। क्रोध में मैं पशु बन गया। पर बात कुछ और थी। उसे मैंने एक लिफ़ाफ़े में रख छोड़ा था। वह लिफ़ाफ़ा रक्खा था एक पुस्तक में। और, वह पुस्तक थी

एक देवी जा की । वह उनके पास वापस चली गई थी ।

ज़रा देखो तो घटनाओं के इस तारतम्य को ! इधर मैंने घर में इस तरह का उपद्रव कर डाला, उधर उन देवीजी ने भी मुझे समझने में ग़लती कर डाली ।

——o——

जलता लैंप

रतन कमरे की हर एक चीज़ को ध्यान से देख रहा था। चेतना उसकी सजग थी। सभी चीज़ों की वास्तविक स्थिति देखते-देखते वह प्रायः जीवन के चढ़ाव-उतार को देखने लगता था।

रात है और ग्यारह कभी के बज चुके हैं। साज़िन्दे जा चुके हैं और नरगिस, गायन और नृत्य के परिश्रम से भीगकर, कोच पर अलग बैठी सिगरेट पी रही है। गोकुल झूम रहा है। आँखें उसकी चढ़ी हुई हैं और बहते पान की लार निम्न ओंठ के नीचे, ठुड्डी तक आ पहुँची है। सिर के घने और सँवारे हुए उसके केश भाल पर फैलकर बिखर रहे हैं और जगदीश मसनद पर सिर टेके औंधे मुँह लेटा है।

यकायक रतन की दृष्टि छत की कड़ी के नीचे, लोहे की छड़ से लटकते लैंप पर जा अटकी। वह सोचने लगा—छड़ यद्यपि लोहे की है और मज़बूत भी खूब है, लैंप तो खैर चाहे जितने दिनों तक उससे लटका रहे; किन्तु आदमी का वज़न क्या वह सम्हाल सकेगा?

हाँ, छड़ लोहे की है और कड़े में उलझी है। काफ़ी मज़बूत चीज़ है। आदमी चाहे तो लटक भी सकता है, झूल भी सकता है!

—क्या खूब! जैसे आदमी लैंप बन रहा हो!

—क्यों? लैंप जल रहा है। चिमनी उसकी इतनी गरम है कि उसे छुआ नहीं जा सकता! आदमी की भी तो यही स्थिति है। वह भी तो जल रहा है! यह नरगिस क्या है? ये गोकुल और जगदीश क्या हैं? और, दूसरों की बात मैं क्यों कहूँ? मैं क्या हूँ,—मैं?—मैं—एं—!!!

रतन का बीस वर्ष का एकलौता जवान लड़का अभी गत वर्ष दिवंगत हो चुका है। उसके आगे-पीछे अब कोई नहीं है। जगदीश आज डेढ़ वर्ष से बेकार है। अदालत में झूठी-सच्ची गवाहियाँ देता है, इष्ट-मित्रों के यहाँ बैठकर गप लड़ाता है। उसके खाने-पहनने और रात को सो रहने का कुछ ठीक नहीं है। माँ-बाप, भाई-बहिन, संसार में क्या चीज़ होते हैं, वह नहीं जानता।—गोकुल की स्त्री का स्वर्गवास हुए सत्रह वर्ष हो गये। स्त्री एक लड़का छोड़ गई थी।—वह लड़का भी जन्म से अन्धा है। गोकुल ने दूसरा विवाह नहीं किया। पैसा उसके पास काफ़ी रहा है। लेकिन धीरे-धीरे सब का सब उसने फूँक-तापकर बराबर कर रक्खा है!

यकायक गोकुल उठा, दो कदम आगे बढ़ा भी ! किन्तु फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ा; तकिया मोड़कर सिर के नीचे रखकर ज़रा सुस्ताने लगा। फिर थोड़े विलम्ब से, सम्हलकर, वह बोला—इ· इधर आ-आ जाओ, म्म-मेरी मैना···इ-इधर।

तब रतन के मन में आया, लैंप की लौ खूब बढ़ी हुई है। चिमनी के ऊपर थोड़ा-सा धुआँ भी उठ रहा है और उड़ रहा है।— यहाँ तक कि चिमनी के एक ओर कालिमा भी आ गई है।

नरगिस चुपचाप बैठी सिगरेट का कश लेती रही। एक बार ज़रा-सा देख-भर लिया उसने गोकुल की ओर।

जगदीश को मिचली आ रही थी। वह उठा। उसके पैर डगमगाये, किन्तु दीवाल से लगकर धीरे-धीरे बढ़कर वह बराण्डे में जा पहुँचा और वहाँ उसे क़ै हो गई। पाजामे पर कुछ छींटे पड़ गये और उसका मलमल का कुरता अधपचे भोजन, मदिरा और लार से सन गया। उसका हृदय धड़कने लगा और कड़वे-कसैले रसों की तीक्ष्णता से कण्ठ ऐसा जलने लगा, जैसे चिर गया हो!— फट गया हो!!

रतन सोचता है, वह ऐसी जगह आया ही क्यों? क्या ज़रूरत थी यहाँ उसकी? यहाँ आकर उसने पाया और देखा क्या? नरगिस माना कि सुन्दर है और गा भी अच्छा लेती है। तो? जो कोई भी उसके यहाँ आता है, उससे वह हँसकर बोल लेती है, प्यार भी थोड़ा-बहुत उस पर उँडेलना चाहती है! सब के लिए मानो वह तत्पर है, स्वीकृत। उसके यहाँ निषेध है, तो केवल 'न' कार के नाम

पर—अस्वीकृति के नाम पर। किन्तु इस सर्व-भक्षी स्वीकृति का अर्थ क्या है, उद्देश्य क्या है ?

मानो कमरे की प्रत्येक वस्तु से वह यही पूछना चाहता है। किन्तु कोई चीज़ उससे कुछ कहना नहीं चाहती। उसके आगे सभी मूक हैं। तब आप ही उसके मन में आता है—यह सुनील अम्बर, जो शून्य है, रिक्त है, शान्त और मौन है मनुष्य की समस्त कल्पनाएँ उसमें समा जाती हैं, उसे भी तो सभी कुछ स्वीकार है।—तो उसका क्या उद्देश्य है ?

लो, आख़िरकार नरगिस गोकुल के पास आ ही गयी और गोकुल उसकी गोद में जाकर, उसके गले में दोनों हाथों का गोफा डालकर, कहने लगा—तुम मेरे इस सिर को सदा, इसी तरह अपनी छाती से लगाये रहना। भला, मेरी रानी; जिसमें मृत्यु की निर्ममता मुझे छू भी न पाये ! बात कहकर थोड़ा ठहरकर उसने एक ठंढी साँस ली और और वह फिर चुप हो गया।

रतन ने लक्ष्य किया, गोकुल का कथन यद्यपि बीच-बीच में, जहाँ-तहाँ टूट गया है, तो भी अपने आप में वह पूर्ण है और अपना एक स्वरूप रखता है। यह भी प्रतीत हुआ उसे कि गोकुल मृत्यु के प्रति पहले से सतर्क है; देखता रहता है उसको, कि, वह है कितने फ़ासिले पर, और आ कब तक सकती है।

उसी समय गिरता-पड़ता आ पहुँचा जगदीश, जिसके मुँह और कपड़ों से बदबू आ रही थी। रतन ने देखा, तो मुँह बिदोरकर वह बोला—अरे, तुम्हारा यह हाल है ! जाओ पहले कपड़े बदल आओ

और हाथ-मुँह धो आओ। यहाँ यह गन्दगी मत फैलाओ।

नरगिस ने पुकारा—कल्लन, अरे ओ कल्लन।....जान पड़ता है, सो गया है। अच्छा, तब मैं खुद चलती हूँ! चलिए जग्गू बाबू. इधर ऐसे आइए!

किन्तु जगदीश ने झूमते हुए अपने मुँह के सामने ही, आकाश में जैसे हाथ मारकर कह दिया—उँह! रहे तुम भी बस, पूरे अहमक़! यही पढ़ा है तुमने! बदबू आ रही है! किस चीज़ में बदबू नहीं होती?

फिर एक अजीब तरह से टेढ़ा और तिरछा-सा मुँह और उसकी भंगिमा बनाकर एक वीभत्स ओज के साथ तपाक से उसने कह दिया—तुम अपने को बहुत सुगन्धित मानते हो? क्या मैं बतलाऊँ कि तुम्हारी अठारह वर्ष की विधवा बहिन ..?

कि रतन ने उसके मुख पर हाथ रख दिया और कहा—बस भाई जगदीश, माफ़ कर दो मुझे, माफ़ कर दो। माफ़ क.. ..! और वह नितान्त अप्रतिभ हो पड़ा। उसके खिले, जागरूक मुख पर एक कालिमा-सी पुत गयी।

"अरे! इन रतन बाबू के कहने का बुरा मान गये तुम, जग्गू बाबू।" नरगिस जगदीश को, कन्धे के बल सहारा देकर, बराण्डे की ओर ले जाती रतन की ओर देखती हुई बोली—यहाँ का यही दस्तूर है रतन बाबू। तो भी माफ़ी चाहती हूँ, इनकी ओर से। कुछ ख़याल न कीजिएगा। कुछ दिनों बाद आपको भी सब कुछ सुनने और सहने की आदत पड़ जायगी।

चली गई नरगिस जगदीश को लेकर। किन्तु रतन के आगे जैसे बिजली कौंध गई। ऐसा मनोहर रूप और ऐसी मधुर वाणी!—और यह शालीनता!! तो क्या यह नरगिस इस लोक की चीज़ नहीं है—इस नरक-कुण्ड की?—जहाँ भेदाभेद का राज्य है, और जहाँ विद्वेष की ज्वाला प्रतिस्पर्द्धी का गला तक घोंट सकती है। ज़रा-सी मेरी उचित सलाह जगदीश को सहन नहीं है। दोषों को दूर करना जैसे उसका उद्देश्य ही न हो। पाप करके शान्त हो जाना उसने सीखा नहीं। वरन वह तो उसकी नग्नता को जैसे प्रदर्शन की वस्तु मान बैठा है!

किन्तु यह नरगिस?

कह तो गई वह कि यहाँ का यही दस्तूर है। अर्थात् यहाँ आकर कोई व्यक्ति किसी दूसरे के आगे बड़ा अथवा उच्च बनकर, चल नहीं सकता, रह नहीं सकता। अच्छा और बुरा, श्वेत और कृष्ण यहाँ के लिए समान हैं। इस काले-काले अन्धकार में सभी आकर समा जाते हैं। रम जाते हैं! थोड़ा-बहुत ग़रीब भी अगर कोई है, और आ ही गया है यहाँ, तो उसे आहें भरने और रोने की ज़रूरत नहीं है। पी सकता है वह, गा सकता है वह, और चाहे तो नाच भी सकता है। गाली-गलौज और मार-पीट की भी उसे आज़ादी है, शायद! खूब!!

रतन यही सब सोचने में लगा था कि उसने देखा, जगदीश कभी का गया हुआ है और वापस नहीं आया अब तक। इधर-उधर कहीं तो नहीं है। तब जान पड़ता है, नरगिस ने कहीं उसके सोने

का प्रबन्ध कर दिया है। किन्तु, अरे, यह बात क्या है!!—वह जैसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। उत्तरी दरवाज़े के पास झकझोरी चल रही है।

—"छोड़ दो मुझे, कहा मानो, छोड़ दो। मैं अब···।

नहीं जी, यह कैसे हो सकता है!

मुझे नींद लगी है और मेरा सिर फटा जा रहा है! छोड़ दो, छोड़ो तो, छो······।

सोडावाटर की बोतल पास पड़ी थी, वही उठाकर उसने नरगिस के भाल पर दे मारी! और तब फल्ल-से खून की धार, फव्वारे की भाँति, फ़र्श पर आ गिरी। रतन ने गोकुल को पीछे से पकड़ लिया और ज़ोर से चिल्लाकर कहा—क्या करते हो!

"—दूर, बस, दूर रहो; हटो, छोड़ो", कहते और अपने आप को रतन के क़ब्ज़े से शक्ति-भर छुड़ाते हुए गोकुल बोला—तुम नहीं जानते कुछ, एकदम गधे हो—बेवक़ूफ़! इसने मेरा घर, मेरी दौलत, मेरा धर्म-कर्म, सभी कुछ लूट लिया है! सब कुछ मेरा मुझ से छीनकर बैठी है। और आज यह मुझे जवाब देती है!—हरामख़ोर! मैं आज तुझे ख़तम कर दूँगा—ख़तम! नरगिस नहीं है तू—नागिन है!—नागिन!! आदमी को डस लेना ही तेरा धर्म है!!!

ग़श खाकर वहीं गिर पड़ी थी नरगिस। खून की धार बन्द नहीं हुई। फ़र्श और देहली तर हो गई। उससे सावधान रतन बोला—चलो इधर मेरे साथ, पागल मत बनो। डाक्टर को लिवा लाना होगा। चोट ज़्यादा आ गई है।

"अच्छा, तो मैंने ख़ून कर डाला इसका !"......गोकुल बोला—"चलो छुट्टी हुई ! पर अब मुझे ले कहाँ जाते हो ! बेकार है, डॉक्टर-वाक्टर बुलाना। मैं भी इसके साथ चला जाऊँगा। बस, टिकट-भर लेना बाक़ी है ! सच ! मैं झूठ नहीं बोलता।—"साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप !"—कुछ पढ़ा है ? ह-ह-ह !!!

रतन ने देखा, गोकुल को साथ ले जाने में दिक़्क़त है—देर भी हो रही है। अतएव वह तब अकेला ही डाक्टर के पास दौड़ गया !

गोकुल अब नरगिस के पास जा बैठा। उसकी बँधी हुई, कमर के नीचे तक लटकती वेणी के ऊपर और सिर पर उसने हाथ फेरा, फिर ख़ून से तर उसके एक कपोल को चूमकर वह कहने लगा—बिल्कुल उसी तरह, जैसे नरगिस मान किये है और चुपचाप लेटी है।

"नाराज़ हो गई हो ?—अच्छी बात है। अस्वीकृति जब तुम से दूर चली गई, तब तुम किसी बात से इनकार तो न कर सकोगी। ज़िन्दगी का यह पहलू तुम्हीं ने मुझे दिखलाया है। स्वर्ग और नरक तुम्हारे ही इस द्वार पर पहरा देता है ! जब कामना के पंख खुल जाते हैं और मनुष्य अपने आपको सदा के लिए मुक्त और निर्बन्ध देखता है, तब इस संसार और सभ्यता के घनावरण की छाया में तुम्हीं, मेरी उर्वशी, अपने लोल लास्य की उन्मद लहरों से, जीवन की सारी हीनता, अभावों की सारी निर्ममता, कलुष और उनका कुटिल अट्टहास, कालिमा और उसका समस्त फूत्कार हर लेती हो।

"लेकिन नाराज़ रहकर भी तुम पहले बोलती थीं। शिकायत

रखकर भी तुम हँस देती थी। दुःख तुम्हारे भीतर, एकान्त क्रोड़ में, दबा पड़ा रहा करता था, चुपचाप। दावानल को भी तुम मूक बना डालती थीं—प्रशान्त कर देती थीं उसे! किन्तु आज उसके आगे तुम खुद शान्त हो जाना चाहती हो; क्यों?

उठकर गोकुल नरगिस की नाड़ी देखने लगा। फिर वह खड़ा हो गया और कमरे में टहलने लगा।

अब चेतना उसकी कुछ सजग हो आयी थी। आँखें फाड़-फाड़कर बराबर वह नरगिस की कनपटी के ऊपर के कोने पर जमे हुए खून को देख रहा था। बारबार वह उसके मुँह को ही देखने लगता था। लैंप जल रहा था और प्रकाश कमरे-भर में फटा पड़ता था, लेकिन गोकुल के मन में आ रहा था—अभी थोड़ी देर में अँधेरा हो जायगा और सभी कुछ एक महा-शून्य में मिल जायगा। रह-रहकर उसको, नरगिस से सम्बद्ध, सारी सुखद स्मृतियाँ स्मरण आ रही थीं। थोड़ी देर तक वह उस बड़े मकान के भीतर चारों ओर चक्कर लगाता रहा। कई बार उसके मन में आया कि वह क्यों न भाग खड़ा हो; किन्तु भागने के नाम पर उसके पैर शिथिल हो जाते, और उसका मानव जैसे भीतर-ही-भीतर हुंकार करने लगता।

"कायर कहीं का! मृत्यु से तुझे डर लगने लगा है! बैठकर तू एक बार अपने आप पर रो क्यों नहीं लेता, पामर!

"हूँ! मैं रोने बैठूँ! क्यों?—भला क्यों? नरगिस मेरे प्राणान्तक आघात से हँस रही है चुपचाप, और मैं रोने बैठूँ!

—उसे याद आ गई एक दिन की, जब नरगिस ने उससे कहा था—"आज से सदा के लिए मैं तुम्हारी हूँ गोकुल। मनुष्य होकर मैं कीड़ा बन गई थी। लेकिन तुमने मुझे फिर मनुष्य बना दिया है। चाहती हूँ, मेरी मृत्यु तुम्हारे ही हाथ से हो!"

वह रो उठी थी इतनी बात कहकर। और उस दिन उसने खाना नहीं खाया था।

—उसे याद आ गई, इसी नगर के एक उद्यान की। जहाँ उमड़ते बादलों से आवृत, लोनी संध्या में, वह उसके साथ झूला झूलने गया था। उस समय भी नरगिस ने कहा था—आज मुझे बहुत आनन्द मिला है, गोकुल। मैं चाहती हूँ, या तो मेरा यह स्वप्न सदा को स्थायी हो जाय।—या मैं सदा के लिए आज ही समाप्त हो जाऊँ—खो जाऊँ!

—और उसे याद आ गई और भी एक विशेष रात की, जब उसने कहा था—नारी के पास जो कुछ भी है, वह—केवल—उत्सर्ग के लिए है, न्योछावर होने के लिए। और जब एक बार वह अपना सर्वस्व समर्पण कर चुकती है, तब वह रिक्त हो जाती है। तब उसके पास फिर कुछ रह नहीं जाता। किन्तु पुरुष की तृष्णा कभी मरती नहीं। वह बराबर, कुछ और चाहता है—कुछ और। किन्तु तुम्हीं बताओ, तब नारी के पास 'कुछ और' की श्रेणी का रह ही क्या जाता है!

सोचता-सोचता घूम-फिरकर गोकुल फिर उसी कमरे में जा पहुँचा और बार पुनः इधर-उधर देखने लगा। उसका सिर फटा

जाता था और मुख सूख रहा था। उसके शरीर की नसों में लहू तेज़ी के साथ दौड़ रहा था और उसकी आँखें झप रही थीं। धीरे-धीरे उसकी स्मरण-शक्ति शिथिल और शान्त हो रही थी। यद्यपि वह खूब जोर लगाकर चाहता यही था कि नरगिस के पास, उसकी गोद में सिर रक्खे चुपचाप लेटा रहे, किन्तु नींद उसे पकड़ न सके ग्रहण न कर पाये।

किन्तु, थोड़ी देर बाद, रतन डॉक्टर को लेकर आ ही पहुँचा।

दूर खड़े होकर सब कुछ देखा उस डॉक्टर ने। देखा कि नरगिस के शरीर पर सिर टेके हुए गोकुल चुपचाप लेटा है। उसकी आँखें फटी हुई हैं और श्वास सदा के लिए शान्त हो गया है। उसका दायाँ हाथ नरगिस की खुली छाती पर है। एक ओर अलग एक खाली शीशी पड़ी है। लहू का नरगिस के सिर से बहना बन्द हो गया है। —यद्यपि बहुतेरा उसकी कनपटी पर पड़ा हुआ जमकर काला पड़ गया है। होंठ और पलक उसके हिल रहे हैं और वह आँखें खोलने ही वाली है।

× × ×

रतन ने पैर के जूते से ठुकराकर कहा—यही वह सोडावाटर की बोतल है।

"हूँ" कहकर डाक्टर जिधर से आया था, उधर से ही लौट पड़ा और बोला—सब से पहले पुलिस को लाना पड़ेगा।

× × ×

अवाक्, अशान्त रतन डाक्टर के पीछे हो लिया। किन्तु चलते

हुए एक बार फिर उसकी दृष्टि उस कमरे में जलते लैंप पर आ पड़ी—तभी फिर वह सोचने लगा—

लैंप जब तक प्रकाश देगा, बराबर चिमनी को जलाता ही रहेगा - जलाता ही रहेगा। जो कोई भी उसे छुएगा, वह जले बिना कैसे बचेगा! उसे जलना ही पड़ेगा—जलना ही पड़ेगा।